प्राक्कथन

यह पुस्तक तो सन् १९४० में ही तैयार हो जाती, किन्तु कागज के अभाव से इसके प्रकाशन में विवशता रही। अभी ३३ वें अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, उदयपुर के, अवसर पर कुछ साहित्यकार मित्रों ने इसे देखा और शीघ्र प्रकाशन की प्रेरणा दी। अस्तु, उसी के फलस्वरूप यह आपके हाथों में इस रूप में उपस्थित है।

यह युग परिवर्तन की घड़ी है। हम न बढ़े तो विजयी समय-चक्र हमें कुचल देगा। "बढ़ो या दबकर मरजाओ।"—प्रकृति के यही दो आदेश हैं। हमें इनमें से किसी एक को स्वीकार करना ही पड़ेगा। प्रकृति के नियम का पालन ही उस पर विजय प्राप्ति का कारण है, जरूरत है केवल उसके रहस्य को समझ कर नियमानुकूल व्यवहार की।

राज्य-विज्ञान का सम्बन्ध व्यक्ति के मत से है। व्यक्तिगत तथा सामुदायिक मन की माँगें राज्य विज्ञान के सिद्धान्त निर्धारित कराती हैं। इन्हीं माँगों के परिवर्तन से सिद्धान्त बनते और बदलते हैं। इन्हें समझ कर जो जनता की माँग को पूरी करता है, जनता को सुखी बनाता है और सुखी बनाकर स्वयं सुख अनुभव करता है वही सच्चा नेता है—वही सच्चा राजा है।

प्रस्तुत पुस्तक में मैंने ऐसे प्रसंग उपस्थित किये हैं कि जिन्हें अपना कर वर्तमान स्थिति में लोकहित के द्वारा शासक अपना तथा जनता का कितना भला कर सकता है। मैंने एक दर्पण उपस्थित किया है इसमें अपना सच्चा स्वरूप देख कर कुछ लोग अवश्य रुष्ट होंगे, लेकिन दर्पण

पर रुष्ट होना समझदारी नहीं है। मैंने तो उस वस्तुस्थिति का चित्रण उपस्थित किया है, जिसपर हमें विचार करना ही चाहिये। मैं रुष्ट होने वालों को यही सलाह दूंगा कि वे इस नैसर्गिक नियम को समझलें कि लोक-हित उनका कर्तव्य है। इस प्राकृतिक नियम का पालन कर वे लोक में विजय पा सकते हैं। इसका उलंघन कर वे नष्ट ही हो सकते हैं। भक्त और भगवान अन्योन्याश्रित हैं। जनता-जनार्दन को जो राजा पुत्र भाव से देखता है उसकी प्रजा उसके वश में होती है। पुस्तक में यही दृष्टिकोण रक्खा गया है।

पुस्तक वास्तव में उपन्यास नहीं है, किन्तु इसकी शैली का रूप वैसा ही दिखाई देता है। एक मनुष्य का कर्तव्य है कि किसी न किसी रूप में अपने विचार यदि उनके रखने से जन-समाज का हित हो अवश्य रक्खे। यही एक ध्येय अपने सामने रख यह पुस्तक जनता-जनार्दन के सामने रक्खी है। आशा है, यह राजा-प्रजा सब को समान रूप से रुचिकर होगी।

मान-भवन, उदयपुर
विन्ध्यारामी,
ता० १६ अक्टूबर १९४४ ई०

विनीत लेखक—
मानसिंह

॥ ओ३म् ॥

पहला परिच्छेद

स्वर्गीय महाराज का राम-राज्य

जौनपुर के महाराज का स्वर्गवास हुये दस वर्ष हो चुके हैं। उसी समय से राज्य का प्रबन्ध एक रीजेन्सी कौन्सिल द्वारा चलाया जा रहा है। यहाँ के नये महाराज अगले चैत्र में १९ वें वर्ष में प्रवेश करेंगे। इन नरेश की बाल्यावस्था के शासनकाल मे प्रजा को कौन्सिल से कोई खास लाभ तो नहीं पहुँचा, किन्तु स्वर्गीय महाराज जो कि एक पुराने विचारों के नरेश थे तथा जिन्होंने अपने राज्य काल में नये कर नहीं लगाने दिये थे, वे अवश्य दूसरे राज्यों की तरह अब लगा दिये गये। स्वर्गीय महाराज एक सीधे सादे नरेश थे, अतः उन्हें नई रोशनी से केवल भय ही नहीं था, किन्तु घृणा भी थी। यहाँ तक कि अगर वे मोटर या रेल मे बैठते; तो जब तक स्नान सन्ध्यादि से निवृत होकर शुद्ध नहीं हो लेते तब तक भोजन नहीं करते थे। एक बार आप जब स्पैशल ट्रेन द्वारा हरिद्वार-यात्रार्थ पधारे तो दो दिन तक आपने केवल फलाहार ही किया और अन्य कोई वस्तु ग्रहण नहीं की। जैसे आप सरल विचार के थे वैसी सादी पोशाक भी पहनते थे और वह भी सिर से पैर तक देशी ही।

महाराज के शासन काल में न तो शहर में कोई म्युनिसिपैलिटी थी और न डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ही था, फिर भी इस बात का जरूर विचार रक्खा जाता था कि शहर और गाँव में सफाई पूरी पूरी रहे। इसी कारण किसी घर के सामने या भीतर पहले तो गन्दगी दीखती ही न थी और यदि कहीं दीख भी जाती; तो मुहल्ले वालों के लिये आज्ञा थी कि वहाँ के पाँच पंच इकट्ठे होकर उस घर के मालिक को एकबार सावधान करदें, जिससे कि आगे वह घर के आसपास कचरा या गंदगी जमा न होने दे। यदि इतने पर भी वह सफाई न रखता तो लाचार होकर पंचों को हुक्म देना पड़ता था कि वह केवल अपना घर का कचरा ही साफ न करे बल्कि सारे मुहल्ले के रास्तों को भी खुद झाड़ से साफ करे। यदि इसमें वह आनाकानी करता तो पंच कई एक तरह से उसका बहिष्कार करके उसे ठिकाने पर ले आते थे। अगर इसमें भी पंचों की कोई ज्यादती दिखाई देती तो महाराज के सम्मुख वादी प्रतिवादी बनकर पुकार पहुँचाई जाती थी, क्योंकि आज की तरह उनके शासन काल में अदालतें नहीं थीं, वे स्वयं ही अदालत थे। यहाँ तक कि सुबह पूजा-पाठ के बाद वे आठ बजे से कचहरी में जा बैठते और ठीक बारह बजे तक इन्साफ करने में लगे रहते थे, अर्थात् यह कह देना अत्युक्ति न होगी कि महाराज ही अपने राज्य की अदालत थे, वे ही पुलिस थे और वे ही सब कुछ थे। यह अवश्य था कि विरले ही पुकारू सामने आते थे क्योंकि कानून तो कोई था ही नहीं और न क़ानूनी इन्साफ ही मिलता था। फिर भी उनके न्याय की बहुत

ही प्रशंसा थी और किसी पर अन्याय करने का अवसर ही नहीं आता था। एक समय की बात है कि महाराज के पास एक ढोली फरियाद करने आया। महाराज के पूछने पर मालूम हुआ कि अमुक राजपूत ने उसकी औरत उड़ाली। राजपूत बुलाया गया किन्तु उसने हर तरह से विश्वास दिलाया कि वह औरत जिसको ढोली ने अपनी बताई है उसी (राजपूत) की है। इस पर महाराज ने कुछ सोचकर उस औरत को दरवाजे में बिठा देने का हुक्म दिया और उसके खाने पीने तथा सोने का पूरा पूरा इन्तजाम भी करा दिया जिससे कि उसे कोई कष्ट न हो और उधर राजपूत एवं उस ढोली को दूसरे दिन सुबह हाजिर होने की आज्ञा दी गई।

महाराज अक्सर रात को भेष बदलकर अपनी प्रजा के दुःख दर्द का पता लगाने जाया करते थे; परन्तु उस रात्रि को वे बाहर नहीं गये और इस विचार में व्यस्त रहे कि कल क्या न्याय देना चाहिये ? कहीं मेरे हाथ से अन्याय न हो जाय। क्या उपाय किया जाय कि जिससे दूध का दूध और पानी का पानी हो जाय। महा-राज इन तरंगों में बहे जा रहे थे कि अकस्मात् उन्हें एक युक्ति सूझी कि अगर यह ढोलिन है तो उसे गाने बजाने का शौक अवश्य होगा। तब क्यों नहीं दो-तीन प्रकार के बाजे, जहाँ वह औरत रक्खी गई है, वहाँ चुपचाप रखवा दिये जाएँ। महाराज की आज्ञा से ऐसा ही किया गया और उन बाजों के साथ ढोलक भी रखवा दी गई। रजवाड़ों में प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल और रात्रि के १२ बजे नौबत, शहनाई आदि बजती हैं। यह रिवाज परम्परा से

चला आता है; फलतः जैसे ही इधर नक्कारखाने में १२ बजे रात्रि को बाजे बजके बन्द हुए कि महाराज को ढोलक की आवाज सुनाई दी। यह ढोलक वही औरत बजाने लगी थी जिसे राजपूत ने अपनी स्त्री होना प्रकट किया था और ढोली ने अपनी। महाराज को प्रसन्नता हुई कि अन्त में मामले का ठीक पता लग गया है अर्थात् वह औरत वास्तव में ढोलिन है। सुबह होने पर दरबार में राजपूत, ढोली और उस औरत को बुलाया गया। पूछने पर उस औरत को प्रकट करना ही पड़ा कि वह ढोली की स्त्री है और राजपूत ने कुछ समय से उसे अपने घर में रख लिया था। यही वास्तविक न्याय है जिसको इन्साफ कहना चाहिये। कागजी न्याय नहीं कि जिसमें नब्बे फीसदी झूँठी शहादत के कारण बेइन्साफी होती है जो केवल कानूनी न्याय माना जाता है। ऐसे सच्चे न्याय के कारण पोलिटिकिल विभाग को भी हस्तक्षेप करने का कोई अवसर नहीं मिलता था। अलबत्ता, महाराज का पुरानी चाल पर चलना, उसे खटकता अवश्य था। यहाँ तक कि दूसरे नरेश भी उनसे जलते और उनके पुराने ढंग के रहन सहन इत्यादि की हँसी भी उड़ाया करते थे।

यों तो इस राज्य की कुल आय लगभग पचास लाख थी; लेकिन जैसे खर्च कम थे वैसे ही कर भी कम थे। मालगुजारी की वसूली का सीधा सा तरीका था और वह यह कि हर जिले मे उनके कर्मचारी और वहाँ के पंच मिलकर अलग २ श्रेणी के खेतों की कूँत कर लेते थे अर्थात् फसल के पकने पर वे गेहूँ के खेत पर जाते और

उसमें से कुछ हिस्सा कटवाकर तौल करवा लेते और उसी के हिसाब से फसल का चौथा भाग ले लिया जाता था। इसी प्रकार ढेर फसल की कूँत होती थी। जिस किसी को इस तरह कूँत कराने में एतराज होता उसे हक था कि वह अपनी फसल को काट कर एक जगह पर ढेर लगा दे और उस ढेर का चौथा हिस्सा राज्य में ले लिया जाता था। इस प्रकार मालगुजारी के रूप में जो अनाज आता वह उसी जिले के किले में रखवा दिया जाता जो अकाल के समय उन्हीं गरीब किसानों के भरण-पोषण में काम आता था। कुछ वर्ष पहले इस राज्य में तीन साल तक लगातार अकाल पड़ा, किन्तु राज्य में घास और गल्ले का इतना संग्रह था कि यहाँ का एक भी किसान राज्य के बाहर नहीं गया और न उन्हें मवेशी ही भेजने पड़े। पास ही के दूसरे राज्य में इस समय बड़ा ही संकट आ गया था। सैकड़ों आदमी काल के मुँह में चले गये और हजारों को राज्य छोड़कर बाहर जाना पडा। घास न होने से लगभग तीन चौथाई पशु मर गये।

इस राज्य में अगर कोई कठोरता थी तो यह कि बाहर की चीजों पर टैक्स लगाया जाता था किन्तु वह भी उन्हीं चीजों पर जिनका आना जाना जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक न हो। इसके अलावा पशुओं का राज्य के बाहर ले जाना बिल्कुल ही बन्द था किन्तु अन्दर लाना नहीं। इसी प्रकार आवश्यक खाद्य पदार्थों के बाहर जाने की भी कभी २ ही आज्ञा मिलती थी। यही कारण था कि यहाँ हर चीज सस्ती और शुद्ध मिलती थी।

व्यापारियों की दशा आज जैसी नहीं थी कि हर सौदे में गरीबों को लूटें और अपना पेट भरते रहें। उन्हें महाराज का हुक्म था कि आठ आने सैकड़े से ज्यादा मुनाफा न लें। अगर किसी किसान को सन्देह हुआ तो वह रुपया देने से इन्कार कर सकता था। साहूकार आज के जैसे धरे नक़द का मुकदमा उस पर दायर नहीं कर सकता था और न वह किसी कृषक का खेत रहन या बिकाव करा सकता था, क्योंकि कोई अदालत तो थी ही नहीं। यदि उसे कोई फरियाद करनी होती तो महाराज के पास जाना पड़ता, जिनके मधे न्याय की इतनी धाक थी कि झूँठा फरियादी जा ही नहीं सकता था। साधारणतया कृषिकार शुद्ध चित्त होते हैं यदि उनमें से कोई कुटिल भी निकला तो उसको पंचायत से कठोर दंड मिलता था। इन्हीं कारणों से व्यापारियों और किसानों में पारस्परिक अच्छा व्यवहार था और वे एक दूसरे का समाज में रहना जरूरी समझते थे।

प्रत्येक शहर या गाँव में व्यापारियों की पंचायत थी, जिसका उद्देश्य यह था कि लाभ का चतुर्थ भाग एकत्र करके राज्य के खजाने में पहुँचावें।

बाहर से जो चीजें आतीं उन पर डाण (सायर) अवश्य लगता था। परन्तु इसका अभिप्राय कमाई का न था। एवं बाहर की अनावश्यक चीजों की रोक करना ही अभीष्ट था। महाराज स्वयं जैसे सरल थे वैसे ही वे अपनी प्रजा को भी देखना चाहते थे तभी 'यथा राजा तथा प्रजा' की कहावत चारितार्थ हो सकती थी।

यहाँ की प्रजा पचास प्रतिशत (५०%) पढ़ी लिखी थी। प्रत्येक मन्दिर और मसजिद पूजा और नमाज़ के समय के पश्चात् पाठशालाओं का काम देते थे। मन्दिरों व मसजिदों के लिये पुराने समय से जागीरें चली आती थीं; और उन्हीं की आय मे से पुजारी और क़ाज़ी जो पढ़े लिखे एवं सर्व प्रकार से योग्य होते थे, पंचायतों द्वारा नियुक्त किये जाते थे। सच है, इसी से मिस्टर ऐडवर्ड थामसन ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि 'भारत मे आज से सौ वर्ष पूर्व कई फ़ी सदी अधिक पढ़े लिखे लोग मिलते थे।' यद्यपि वर्त्तमान में इतनी अधिक संख्या में स्कूल और कॉलेज दिखाई देते हैं; परन्तु उनमें पूर्व काल के समान उपयोगिता बहुत कम देखने में आती है।

सैनिक शिक्षा की कोई नई प्रणाली भी राज्य में न थी किन्तु जितने उमराव, सरदार, जागीरदार थे उन्हें अपनी २ आय के अनुसार सेना रखनी पड़ती थी। यही उचित भी था; क्योंकि जागीरें बहुधा सेना रखने के लिये ही दी जाती थीं; आज की तरह नहीं कि, जागीरों को निरा भार रूप समझा जाए और काम लेने के बदले एकदम ही उनको निकम्मा बनाकर छोड़ दिया जाय जिससे कि उन (जागीरदारों) का रहना समाज को खटके। ठीक भी है, जैसे राजा महाराजा अपने जागीरदारों को आवश्यक नहीं समझते वैसे ही प्रजा (समाज) भी उनका अस्तित्व (कायम रहना) आवश्यक नहीं समझती। किन्तु क्या वे इसे स्वीकार करेंगे ? और यदि नहीं; तो क्यों वे अपने अस्तित्व (आवश्यकता) को बनाये रखने का सद्-प्रयत्न नहीं करते ? मनुष्य जैसी आवश्यकता समझता

है वैसा ही अपने समाज को बना लेता है। जहाँ जिस किसी की आवश्यकता प्रतीत न हुई, बस वहीं उसके पीछे पड़ जाता है और बिना उसे मिटाये संतोष नहीं मानता; इसी से संसार को परिवर्तनशील कहा जाता है।

महाराज के शासन काल में न तो प्रजा सभा ही स्थापित की गई थी और न प्रजा-मंडल का तूफ़ान ही चला था। सामायिक दृष्टिकोण से उस राज्य का शासन कैसा माना जाना चाहिये; जिसमें न प्रजा सभा, न म्युनिसिपेलिटी, न एडवाइज़री बोर्ड, न स्कूल, कालेज तथा अदालतें ही हों? परन्तु उस समय एक बात अवश्य थी; वह आज कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती और जो पहले सर्वत्र व्याप्त थी। वह थी शान्ति। जहाँ शान्ति है वहीं सर्व प्रकार के सुख भी हैं। यूरोप की आबहवा कितनी सुखदायिनी एवं स्वास्थ्यवर्द्धक है कि गरमी के दिनों में हज़ारों भारतीयों का ही नहीं, अपितु अन्य देशवासियों का भी इसी (स्वास्थ्य सुधार) के उद्देश्य से वहाँ आना जाना रहता है, परन्तु यदि युद्ध के समय में किसी रोगी को चिकित्सक द्वारा भी आरोग्यता प्राप्ति का साधन यूरोप यात्रा तथा वहाँ का वायु सेवन बताया जाता तो जहाँ पहले हरेक जाने को इच्छुक रहता था; उस समय उनमें से कोई भी ऐसा करने को उद्यत न होता। बीमार चाहे काल के गाल में ही क्यों न चला जाए पर उस ओर मुँह तक नहीं करेगा। क्या वहाँ का जल-वायु पहले जैसा जीवनदाता नहीं रहा? स्पष्ट है कि यह सब कुछ पहले ही के समान है। फिर बात क्या है कि सब कुछ होते हुए भी

कोई वहाँ जाना नहीं चाहता ? सरांश, यह सूर्य के प्रकाश की तरह प्रकट है कि वहाँ इस समय घोर अशान्ति का साम्राज्य फैला हुआ है; और इसी से कोई उधर आँख तक उठाकर भी देखना नहीं चाहता।

इसी प्रकार आधुनिक जागृति के न होते हुए भी जौनपुर में शान्ति थी। जो उस समय को देख चुका है; वह आज भी उस स्वर्णकाल को स्वप्न में देखा करता है। क्या उस समय के आने की फिर आशा की जा सकती है ? अथवा क्या इन नये महाराज से भरोसा हो सकता है कि ये अपने स्वर्गीय पितृ श्री जी का आदर्शकाल एक बार पुनः उपस्थित कर सकेंगे ? इस प्रकार के अनेक विचार वृद्ध पुरुषों के मस्तिष्क में उठा करते थे, क्योंकि भूतपूर्व नरेश ने तो अपनी प्रजा को अपना ही एक विशाल कुटुम्ब समझ रक्खा था। उन्हें प्रजा से तनिक भी भय न था। आज जिस प्रकार राजा, महाराज भयभीत हो अपनी सम्पत्ति बाहर के बैंकों में जमा कराते हैं, ऐसा उस समय नहीं होता था। महाराज केवल राज्य की आय का दसवाँ हिस्सा ही स्वयं रखते थे और बाकी अपनी प्रजा के पालन पोषण में व्यय करते थे। आजकल दरिद्रता प्रायः सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है, किन्तु उस समय यह बात न थी। कहते हैं कि उनके शासनकाल में बारह घंटे से अधिक कोई भूखा प्यासा न रहा होगा। निर्धनता और बेकारी का प्रश्न तो था ही नहीं। वर्तमान समय की भाँति एक ओर अधिक धन संपन्नता और दूसरी ओर दरिद्रता, विशाल अट्टालिकाएँ और घास-फूस मिट्टी की झोंप-

डियाँ, धनियों द्वारा रक्त शोषण और दीनजनों पर अत्याचार बढ़ाना, बड़ों की छल कपट धोखादेही और छोटों की निष्कपटता, पूँजी पतियों का स्वार्थसाधन और निर्धन समाज का रौदन उस समय नजर न आता था। स्वयं महाराज के राजमहल केवल नाम-मात्र के थे वे आज के महलों की भांति विशाल न थे। और विलासिता की सामग्रियों से रहित थे। महाराज का जीवन सरल था। सामाजिक दृष्टिकोण से भी राजा व रंक मे वे किसी प्रकार का भेद-भाव न रखते थे।

दूसरा परिच्छेद

स्वर्गीय महाराज के विचार

किसी राज नीतिज्ञ ने सच कहा है कि 'देशी राजाओं में पुराने रस्म रिवाज नहीं मिट पाते'। जब कि राजा बालक हो और राज्य शासन रीजेन्सी कौन्सिल द्वारा किया जाता हो उस समय उन हितैषियों को लांच्छित किया जाता है जो भूतपूर्व महाराज के कृपा पात्र रहे हों। इसके अतिरिक्त उन खुशामदी टट्टुओं की दाल गलने लगती है, जो इतने दिन चुपचाप बिल्ली की तरह मुँह ताकते थे।

स्वर्गीय महाराज पुराने विचार के नरेश थे इस लिये चापलूस दूर ही रह पाये। न उन्होंने किसी खास सईस को रईस बनाने की चेष्टा की और न चाकर को ठाकुर ही बनाया। अगर उन्हों ने किसी का भला किया तो उस में सब ही प्रजाजनों का हित मुख्य था। वे राज सम्पति को खर्च करते समय बड़ा ध्यान रखते थे। वे इस प्रकार कहा करते थे—"कि यह धन बहुत पसीना बहाने के बाद पैदा हुआ है। इसलिये योंही खर्च नहीं करना चाहिये, वरना राजा दोष का भागी होता है। वे राज्य की रक्षा के लिये राजा कहलाते हैं, न कि किसानों की खरी कमाई का पैसा ऐशो-आराम में उड़ाने के लिये। हाँ, यह नहीं कि राजा अपने जीवन निर्वाह के

लिये खर्च न करें और जो पैसा मिले उसे समेटते ही जावें अपितु उसका सदुपयोग करें।" वह यहाँ तक कहा करते थे "मुझे मरने के बाद साँप बनकर धन की रक्षा करने की आनाक्ष मैं खाली हाथ आया था और खाली हाथ ही जाऊँगा। लक्ष्मी चंचल है, वह अधिक दिनों तक एक स्थल पर नहीं ठहरा करती यदि मैं करोड़ो रुपया इकट्ठा करके जाऊँ तो मेरा पुत्र अवश्य उ रुपयों का दुरुपयोग करेगा। धन इकट्ठा करना कठिन है किंतु उसे उड़ा देना सहज है"।

उक्त महाराज की आयु २० वर्ष की थी, जब भारत में ग़दर का तूफान कोने कोने में फैल रहा था। उस समय मुगल साम्राज्य की अंतिम झलक का वह दृश्य भूला नहीं गया था, जब कि उस तूफान में मुगल राज परिवार की एक विचित्र दशा हो रही थी। और जिसको जोर के धक्के का सामना करते हुए प्राणों का बचाना तक असम्भव हो गया था। यों तो महाराज कभी कभी इन घटनाओं के विषय में फरमाया करते थे लेकिन एक दृश्य, जिसने उनके कोमल हृदय पर बहुत बड़ा प्रभाव डाला था, उसका वे प्राय वर्णन किया करते थे। वह दृश्य था कि जब अंग्रेजी फौज ने दिल्ली को विजय किया था, और मुगल राज्य परिवार को इधर उधर भागने की नौबत आई। उस समय जो कष्ट उस परिवार को सहने पड़े वे रूस के जार के कुटुम्ब के दुःखों से कम न थे। कहाँ तो बादशाह के परिवार का शाही महलों में रहन-सहन और कहाँ उनका जी बचा कर इधर उधर भागते फिरना।

किसी एक हाजिरवासी चापलूस ने महाराज से एक दिन निवेदन किया, कि "महाराजाधिराज ! इस राज्य की कुल आय अभी कम बैठती है, वह खाक्सार के खयाल से चौगुनी हो सकती है। श्रीमत इस ओर कोशिश क्यों नहीं फरमाते।" महाराज ने मुस्कराकर इस प्रश्न का जो उत्तर दिया, वह यह था कि "तुम्हारे कहने के अनुसार चलने से तो वह हालत होगी जो एक किसी लोभी आदमी की हुई थी। सुनो—"एक लोभी के पास एक गाय थी। वह रोजाना दुहाते समय अपने थनों में बछड़े के लिए दूध रख लेती थी। एक दिन उसके मालिक को गुस्सा भर आया कि गाय को यथेष्ट खिलाने पिलाने पर भी दूध ज्यादा नहीं देती। इसका क्या कारण है ? वह एक दिन स्वयं गाय को दुहने लगा और दुहता ही गया, जैसे-जैसे दूध आने लगा, उतना ही अधिक जोर से थन दबाने लगा। रात का समय था, उस जगह रोशनी नहीं थी। जो बरतन था वह भी लबा लब भर कर छलकने लगा। मालिक ने सोचा कि आज ही गाय काबू में आई है। देखता हूँ, कितना दूध देती है। यह सोचकर वह दूसरा बरतन लाने के लिये अपने रसोई घर में गया जहा रोशनी में क्या देखता है कि दूध सफेद होने के बजाय लाली लिये हुआ था। उसे अच्छी तरह से देखने पर मालूम पड़ा कि दूध में लोहू मिला हुआ है। वह बड़े अचरज व सोच-विचार में पड़ गया कि इतना लालच करने से सब दूध में खून मिल गया जो अब काम में नहीं आ सकता। उसी दिन से उसने प्रण कर लिया कि दूध निकालने के पहले बछड़े को पिलाऊँगा

और उसका पेट भरजाने के बाद जो दूध बचेगा उसको मैं दुहूँगा।" ऐसा करने से कुछ समय के पश्चात् गाय अपने बछड़े को दूध पिलाने पर भी पहले से अधिक अपने मालिक को दूध देने लगी। इस उदाहरण से महाराज का आदर्श स्पष्ट झलकता है। उनका ध्येय प्रजा का केवल खून चूसने ही का न था, बल्कि रक्षा करने का भी। वह कहते थे कि "राजा वही कहलाने योग्य है, जो प्रजा को सुख व शान्ति दे"।

उक्त घटना की तरह लक्ष्मी की चंचलता और उसको अन्याय द्वारा संग्रह करने की भी महाराज एक मनोरंजक कहानी सुनाया करते थे। वह यह कि—ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय जब सारे देश में आज की तरह शासन न था और लूट-खसोट कहीं-कहीं फैली हुई थी, उस समय कम्पनी ने एक प्रकार की पुलिस क़ायम की थी, जिसमें भारतीय भी छोटी छोटी जगहों पर नियुक्त किये जाते थे। इन में एक थानेदार भी थे। इन महाशय ने अवसर मिलते ही अपने जिले की प्रजा जनों को डरा, धमका और मारपीट कर बहुतसा धन बटोरा। यहाँ तक कि इनके पास क़रीब एक लाख की सम्पत्ति हो गई थी। जब इन्होंने अपने को यथेष्ट मालदार समझ लिया, तब लूट खसोट के रुपयों से सोना-चांदी के एवज ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रोमिसरी नोट्स खरीद लिये थे, ताकि उन्हें रखे जाने और मुसीबत के वक्त साथ ले जाने में अड़चन न पड़े। कुछ ही समय बाद उनको विश्वस्त समझकर कम्पनी ने दूसरे जिले में एक बड़े पद पर नियुक्त कर दिया। लगभग

दो वर्ष के पश्चात् नौकरी से अवकाश मिलने पर विपुल द्रव्य-संग्रह कर वे प्रसन्नता से घर लौटे। घर पहुँचते ही सब काम को छोडकर सर्व प्रथम उस सन्दूक को, जिसमें प्रोमिसरी नोटस् थे और जो एक अँधेरे दहलान में छिपाकर रख दिया गया था, उसको निकालने की इन्हें धुन सवार हुई। अस्तु दहलान में घुसकर जब सन्दूक को उठाया तो वह पहले से अधिक भारी मालूम हुआ। मन में विचार आया कि लोग कहते हैं कि 'रुपया रुपयों को खींचता है; जहाँ लक्ष्मी होती है वहाँ अधिक लक्ष्मी आती है। कहीं मेरे सन्दूक में लक्ष्मी माता चुपचाप आकर बैठ तो नहीं गई।' इन्हीं भावों से ओत-प्रोत हुए उसने बाहर आकर सन्दूक का ताला खोला और नोटों के बंडलों को सँभाला, तो क्या देखते हैं कि नोटों को चूहों ने कत्तर-कत्तर कर छोटे २ टुकड़े कर दिये हैं और जो सन्दूक में वजन मालूम पडा वह चूहों की लेंड़ियाँ (मेंगनियों) से ही था। थानेदार के दुःख की सीमा न रही। यदि ऐसा काम कोई मनुष्य करता तो वह उसके हाथों से बच नहीं सकता था। वे तो रहे चूहे, जो आहट पाते ही बिलों में घुस गये। उनकी तो टेव थी कि उस लकड़ी के सन्दूक में छेदकर अन्दर घुस जाते और नोटों को कत्तर-कत्तर कर पीछे अपने २ बिलों में चले जाते। थानेदार को इस घटना पर ऐसा संताप हुआ कि वे मूर्छित हो भूमि पर गिर पड़े। घर के लोग तो यह कहने लगे कि इनको अँधेरी कोठरी में कहीं भूत-पिशाच लग गया है। जंत्र-मंत्र के जाननेवाले बुलाये गये और खूब मिरचों की धूनी नाक के पास रखकर दी गई, तब तो थानेदार घबराया और

बिना भूत के लगे ही घबराहट के मारे चिल्लाने लगा। जानवेर ने समझा कि उनके मंत्र-जंत्र से प्रेत जोर-जोर से बोलने लगा है। अतः अब इसे खूब पीटा जाय ताकि भविष्य में थानेदार जैसे सज्जन को सतायें नहीं। थानेदार और दिन तो दूसरों की मरम्मत किया करते थे, किन्तु आज प्रेत निकालते समय उनकी ऐसी पिटाई हुई, जो स्वयं ही सोच सकते थे। क्योंकि उन्होंने जनता को रुपया ऐंठने में पीटा था, यहाँ तक कि कोठरियों में बन्द करके मिरचों की धूनी भी दिलाई थी।

यद्यपि स्वर्गीय महाराज अंग्रेजी पढ़े लिखे नहीं थे और न उनको नया ढंग ही पसंद था, किन्तु उनके विचार आदर्श एवं आदरणीय थे। इसी से उन्होंने अपने राज्य का शासन भली प्रकार चलाया। यही नहीं उनके राज्य में राम-राज्य की झलक दिखाई देती थी। ये थे सच्चे नेता, प्रजा के पिता, राजर्षि और यह सब कुछ होकर भी आप सदाचारी पुरुष थे जिनको मिथ्या भाषण से चिढ़ थी, और न्याय देते समय जो कटु वचनों का प्रयोग नहीं करते थे तथा वादी प्रतिवादी की बात सुने बिना कोई निर्णय नहीं देते थे। इसके अतिरिक्त महाराज 'कंचन-कामिनी' के पुजारी न थे। इसी कारण तो इनके न्याय से कोई भी असन्तुष्ट न था।

महाराज जौनपुर जैसे विशाल राज्य के शासक होते हुए भी अपने को राज्य का स्वामी नहीं मानते थे और कहा करते थे कि 'जौनपुर का राज्य तो मातेश्वरी देवी अम्बिका का है' जो उनके कुल की अधिष्ठात्री देवी थी। वे अपने को देवी का मंत्री समझ

राज्य शासन करते थे। उस राज्य में परम्परा से प्रथा चली आती थी, वह यह कि यदि महाराज ने किसी प्रार्थी की सुनाई करने में देरी की तो वह एक प्रार्थना-पत्र देवी के मन्दिर के भीतरी द्वार की चौखट पर जाकर रख देता और उसमें अपनी दुःख गाथा लिख कर प्रकट करता कि 'तेरा मंत्री (यानी महाराज) सुनाई नहीं करता है, अतएव मैं तेरे द्वार पर पुकारू आया हूँ।' प्रार्थी की प्रार्थना निष्फल नहीं होती। देवी द्वारा महाराज की अन्तःस्थली पर पूर्ण प्रकाश होकर उसे अविलंब न्याय मिलता था।

महाराज कहा करते थे कि राज्य किसी एक व्यक्ति का नहीं है। राजा तो केवल राज्य का ट्रस्टी है। यदि राजा अपने ऐशो-आराम के लिये राज का खज़ाना नष्ट करता है तो उसकी बड़ी भारी भूल है, और वह अमानत की खयानत करता है।

धर्म को महाराज ने बहुत ही ऊँचा स्थान दिया था। यहाँ तक कि वह अपने को उसके आधीन मानते थे; और धर्म ही के आदेशानुसार राज्य शासन किया जाता था। उनका उद्देश्य था कि 'राजा को कोई अधिकार नहीं कि वह धर्म के विरुद्ध कोई कार्य्य करे।' धर्म से उनका अभिप्राय उस धर्म से था जो 'आध्यात्मिक, सामाजिक, विचारगत, आचारगत, रीति-नीति व जातीय जीवन को घनिष्टता के साथ चलाता हो।'

तीसरा परिच्छेद

रीजेन्सी कौन्सिल के शासन की झलक

भूतपूर्व महाराज के स्वर्गारोहण के पश्चात् प्रजा को अनेक प्रकार से कष्ट होने लगे। क्योंकि रीजेन्सी कौन्सिल द्वारा नित्य नये-नये कर बढ़ाये जाते थे; जिन से ग़रीब प्रजा को कठिनाईयों का सामना करना पड़ता था। किन्तु किया क्या जा सकता था? राज्य की आज्ञा का विरोध किया जाने पर राजद्रोहियों में गिनती होती जिसका अब तक कोई अवसर ही नहीं आया था। साथ ही प्रजा के हृदय में राजगद्दी के प्रति वही प्रेम विद्यमान था, जो कि स्वर्गीय महाराज की उदारता के कारण उनके हृदय में घर कर गया था। हाँ; जो लोग उनके शासनकाल में अल्पवयस्क थे और आज जिनकी गिनती नवयुवकों में होने लगी थी; वे अपने बड़े-बूढ़ों की कायरता से अवश्य असन्तुष्ट थे। वे चाहते थे कि किसी रूप में अशान्ति (क्रान्ति) प्रकट करना आवश्यक है; क्योंकि बिना उसके प्रकट हुए दुःख नहीं मिट सकते। परन्तु वृद्धजन यों कह कर उनकी बात टाल देते थे कि "अपने महाराज अभी बालक हैं इसलिये अशान्ति प्रकट करना विद्रोह माना जायगा। जब महाराज के हाथ में राज्य शासन की बागडोर आवेगी तब महाराज स्वयं ही सभी संकट मिटा देंगे। आख़िर ये महाराज भी तो स्वर्गीय महाराज के ही सुपुत्र हैं; इसलिये

हमें आशा ही नहीं, वरन् पूरा-पूरा विश्वास होना चाहिये कि नये महाराज हमारे दुःख-दर्द अवश्य दूर करेंगे।" इस प्रकार आश्वासन देकर वे नवयुवकों के जोश को शान्त कर देते थे।

किन्तु इतना समझने पर भी कोई न कोई एजेन्ट साहब के बँगले पर शिकायत लेकर पहुँच ही जाता। कदाचित् उन लोगों को *मालूम नहीं था कि स्वयं एजेन्ट साहब ही कौन्सिल के मुख्य* सदस्य हैं। एक दिन सेवाराम नाम का किसान साहब बहादुर के पास जा पहुँचा, किन्तु साहब ने दो-चार मीठी-मीठी बातें सुनाकर उसे रेवेन्यु मिनिस्टर के पास जाने का हुक्म दिया। वह उन मीठी बातों से मुग्ध होकर माल-हाकिम के बँगले की ओर चल दिया वह रास्ते में मन ही मन सोचने लगा "देखो, साहब कैसा सज्जन और दयालु है। यदि कोई हिन्दुस्तानी अफसर होता तो वह फरियाद करने पर अपने चपरासी द्वारा अवश्य धक्के लगवाता। क्योंकि जैसी खरी और साफ-साफ बातें उनको सुनाई गई, उन्हें हिन्दुस्तानी अफसर कभी सहन नहीं कर सकता था; पर साहब बराबर हँसता ही रहा। उसके चेहरे पर रूखापन या नाराजी नाम को भी नहीं दिखाई दी।"

सेवाराम ज्यों-ही रेवेन्यु मिनिस्टर के बंगले पर पहुँचा तो फाटक पर ही चपरासी मिला और उसने अपना मुजरा कराने का इनाम माँगा। उसके लाचारी प्रकट करने पर भी जब वह (चपरासी) धक्के देने लगा, तब उसको अपनी धोती की अंटी में से एक रुपया निकाल कर उसे देना ही पड़ा। इस पर भी उसने (सेवाराम) को एक ओर बिठा दिया। कारण, मिनिस्टर साहब

को फुरसत ही कहाँ थी कि उनकी प्रार्थना सुनते ! वे तो आराम कर रहे थे और उनके दफ्तर में बैठे लोग अपनी गप-शप लगा रहे थे। चपरासी लोग अपने-अपने इनाम की चिन्ता में इधर-उधर घूम रहे थे। यदि कोई जागीरदार मिलने आगया तो उसे खास मिलने के कमरे में बिठाकर बख्शीश की आशा में सामने खड़े हो जाते थे।

यों तो रेवेन्यु मिनिस्टर वयोवृद्ध सज्जन थे; किन्तु नई वधू के प्रेम और उसकी निगरानी में ही अपना अधिक समय व्यतीत करते थे यहाँ तक कि अपना दफ्तर भी उन्होंने रहने के बँगले में ही स्थापित कर दिया था, जिससे किसी को मालूम ही न हो कि कितना कम समय वे अपने ऑफिस में व्यतीत करते हैं। सिवाय इसके एक कारण और भी था, वह यह कि घर रहने से नववधू पर कंट्रोल भी रक्खा जा सकता था। न मालूम उन्होंने अब तक कितने प्रकार के कुश्ते मँगवा २ कर खाये होंगे, हरिदास कम्पनी से तो प्रति मास ४०)-५०) रुपये की दवा आ ही जाती थी। आखिर वे इतने बड़े अफसर जो ठहरे; उनको काम भी काफी करना ही पड़ता था। वे काम कितने समय तक करते थे, यह प्रश्न तो था ही नहीं। एक बार आप सपरिवार दौरे पर पधारे, किन्तु केवल अफसरों से मिलने के सिवाय आपने किसी की सुनाई की ही नहीं। आपको इतना समय ही कहाँ था कि अपनी नववधू को छोड़ दफ्तर में घंटाभर बैठ सकें। आप राय साहब कैसे बना दिये गये, इसका रहस्य भी बहुतों की समझ मे नहीं आता था। फिर भी लोगों का अनुमान

यही था कि कदाचित् वृद्धावस्था तक की हुई सेवाओं के कारण ही आपको यह पद मिला है।

बेचारे सेवाराम को वहाँ बैठे २ दो घंटे बीत गये। बीच में उसने एक दो बार चपरासी से कहा भी; किन्तु उसे अब इसकी क्या परवाह थी? तत्काल ही तो उसने डाटकर उत्तर दे डाला—"बैठ-बैठ! क्यो जल्दी मचाता है।" शाम के ठीक पौने पाँच बजे अफसर साहब घूमने के लिये बाहर निकले। किन्तु मोटर आने मे दो चार मिनट की देर हो गई, अतः मौका देखकर सेवाराम दोनों हाथ जोड़े साहब के समीप जा पहुँचा और कुछ निवेदन करना ही चाहता था कि इतने मे रेवेन्यु मिनिस्टर ने उसे डाटकर कहा—"तुम बड़े बेवकूफ और जंगली मालूम पड़ते हो। तुम्हें मालूम नहीं कि अभी हम घूमने बाहर जा रहे हैं। दफ्तर के टाइम पर क्यो नहीं आये?" बेचारा सेवाराम कहनेवाला ही था कि—"मैं तो दफ्तर के टैम पर ही आया था, पर आप आराम कर रहे थे।" किन्तु इसी बीच अफसर की नजर चपरासी की तरफ पड़ी और उसी चपरासी ने जिसे रुपया भेंट किया था, झट से हाथ पकड़कर बेचारे को एक ओर कर दिया। और साहब अपनी वधू के साथ मोटर मे बैठकर रवाना हो गये।

कौन सुने, क्यों सुने और किस किस की सुने? जिसके दिमाग मे यह अहंकार पैदा हो जाता है, वह चाहे अफसर हो या प्रजा का नेता ही क्यों न हो, किसी की पुकार कभी न सुनेगा। उसे तो फिर हरा ही हरा दीखने लगता है। एक स्थान से चढ़ते-चढ़ते ऊपर के

स्थान तक पहुँच जाने पर जहाँ उसे अपनी मजबूती मालूम होने लगती है तो निश्चय ही उसमें एक प्रकार की लापरवाही सी आजाती है। उसे भय, शोक या लज्जा का अनुभव नहीं होता, क्योंकि दम्भ अभिमान एवं निर्दयता को उसके हृदय मे मुख्य स्थान मिल जाता है।

सेवाराम को लगभग ३० मील वापिस जाना था उसे घर छोड़े एक सप्ताह हो चुका था। जो पूँजी वह साथ लाया था वह सब बाजार की पूडी शाक खाने, चपरासी को इनाम देने और अपने को दरख्वास्त लिखाई की फीस देने में खर्च हो गई। उसके पास एक फूटी कौडी भी न बची थी। वह उधार माँगने जावे भी तो किसके पास ? शहर मे सिवाय अपने वकील के किसी दूसरे से उसका परिचय ही न था। वह वकील के पास भी चला जाता, किन्तु उसे मालूम था कि वकील साहब बिना पैसे बात तक नहीं करते हैं। आखिर वकील साहब ही ठहरे, उनका हृदय कोमल हो तो उनकी वकालत ही कैसे चले और वे सच बोलें तो उनको वकील कौन माने ? जितनी अधिक वह झूँठी बहस करते, उतने ही अधिक वह कामयाब होते थे। उनका कहना था कि "अगर किसी को रियासत में कामयाब होना है, तो क़ानून भूल जाए और खूब चिल्लाकर जोर-शोर से उल्टी सीधी बहस करना सीख ले।" अस्तु उनका कहना एक तरह से ठीक भी था, क्योंकि एक बार जबकि वे शुरू मे वकालत पास करके आये ही थे, वे एक मुक़द्दमे मे हाई कोर्ट जज के सामने कानूनी बहस करने लगे। किन्तु वह कानूनी बहस जज की समझ में न आई, क्योंकि जज साहब को कानूनी

किताब पढ़े करीब १५ साल हो गये थे। अंत मे उन्होंने कह ही दिया कि "ब्रिटिश भारत का कानून यहाँ जारी नहीं है केवल छाया से काम होता है, इसलिए इतनी गहरी बहस करना निरर्थक है।" बस तभी से वकील साहब ने क़ानून की किताबें पढना तक बन्द कर दिया।

यदि सेवाराम काश्तकार को भूखा रहने का अनुभव नहीं होता, और अफ़सरो का दुर्व्यवहार उसके दिल पर चोट न पहुँचाता तो उसकी आँखें ही कैसे खुलतीं ? उसके स्वतंत्र विचारो का ही यह परिणाम था कि पैमायश के समय अमीनो ने उसके कब्जे में जो ज़मीन थी उसे दूसरा दर्जा न देकर अव्वलदे दिया था। कहाँ तो उसका बाप १०५ मन मका और ५५ मन गेहूँ राज्य मे 'कर' के जमा कराता था और कहाँ अब पैमायश के बाद ६०) रुपये जमा कराने पडते थे। किन्तु वह देखता था कि जिस किसी काश्तकार ने अमीनजी का मुँह भर दिया; उसी के लगान मे कमी हो जाती थी। काली मिट्टी की जगह भूरी और पीली की जगह रेती मिली जमीन दर्ज कर दी जाती थी। अमीनजी के किये हुए काम की जाँच के लिये गिरदावर के आने पर प्रतिदिन प्रातःकाल के समय उनके निवास पर दूध तो पहुँचाया ही जाता पर उसके अतिरिक्त घी के एक दो पीपे भी भेंट करने पड़ते थे। उनसे भी बड़े अफ़सर का दौरा होने पर अधिक मात्रा मे दूध-दही आदि से उनकी सेवा की जाती थी। अफ़सर लोग प्रायः अपने बाल-बच्चों सहित दौरा करते थे। कोई हाकिम साहब की बीबी को नजर करता तो कोई बच्चों के हाथ में मिठाई खाने के

लिये रुपया देता। हाकिम साहब तो सिवाय तीन चार सेर दूध
और कुछ नहीं चाहते थे। किन्तु इस पर भी वे अपनी सफाई जरू
दिखाते थे। कभी २ रात को काश्तकारों के इकट्ठा होने पर वे कहा
करते कि "देखो हमने रिश्वत न लेने की कसम खाली है। हम
पुराने हाकिमों की तरह नहीं हैं। हाँ यह जरूर है कि कोई ढ़ंे
दूध-दही ले आये तो उसे यथे-यथी भले ही काम में लेते हैं।
हमें तो कोई खास जरूरत है ही नहीं। राज्य की तरफ से जो भर
मिलता है वही यथेष्ट है। परन्तु तुम्हारा मन न दुखाने के लि
मना नहीं करते।" बेचारे काश्तकार चुपचाप हाँ में हाँ मिलाने के
सिवाय और करते ही क्या ?

यह स्वर्गीय महाराज का शासन काल तो था नहीं; प्रार्थ
लेकर जावें भी तो किस के पास ? अंत में सेवाराम भी मुकद्दमे
बाजी से थक गया और मन मार कर घर बैठ रहा तथा अमीनजी
द्वारा लगान का भार सहने में असमर्थ होकर कर्ज़दार हो गया।
थोड़े ही दिनों में उसके बाप-दादों की जमीन दूसरों के अधिकार में
चली गई और वह दाने-दाने का मुहताज हो गया।

यह है रीजेन्सी कौंसिल के शासन का छोटा-सा नमूना !

चौथा परिच्छेद

नवयुवक महाराज का शिक्षा काल

जब स्वर्गीय महाराज परलोक सिधारे, उस समय नये महाराज की शिशु अवस्था थी। अतः वे केवल महारानी ही की देख रेख में पले थे। महारानी इन में अपने पति जैसा ही आदमी पन देखना चाहती थीं और जब तक वे जीवित रहीं तब तक पोलिटिकल ऑफिसर एवं कौंसिल के मेम्बरों के प्रयत्न करने पर भी नवीन महाराज, रईसों के कॉलेज में न भेजे जा सके। शिक्षा महारानी ही की देख रेख में होती थी। उन के तीन शिक्षक थे जिन में से एक संस्कृत का विद्वान् भी था। महाराज को संस्कृत की ओर विशेष रुचि थी। यहाँ तक कि नीति शास्त्र के कई श्लोक भी उन्होंने कंठ कर लिये थे। अंग्रेजी भाषा अवश्य पढ़ाई जाती थी; किन्तु महाराज को इस में कम ही रुचि थी। कभी कभी वे पढ़ने से जी चुराते तो इनका बंगाली अध्यापक यह कह कर समझाता कि 'महाराज साहब ! आप को पढ़ना होगा; क्यों कि इसके बिना आप रेजीडेंट साहब बहादुर से कैसे बात चीत करेगा ? आप न पढ़ेगा तो वह हम पर गुस्सा होगा और हमारी प्लेस पर कोई इंग्लिश मेन को रक्खेगा तो फिर आप को बहुत २ मोस्किल पड़ेगा।' इसी एक भय से विवश होकर महाराज अंग्रेजी पढ़ने में मन लगाते थे।

किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि जब महाराज १५ वर्ष के हो
आये, तब अचानक उनकी निर्दुषी माता का भी स्वर्गवास
गया। महाराज अपनी माता का बड़ा आदर करते थे। महार
उनको प्यार ही नहीं करती थीं, वरन् अनुचित काम करते प
कभी कभी उन्हे डाट भी दिया करती थीं। अन्तत. राजमाता के
देहावसान होते ही कौंसिल और चापलूसों की दाल गलने लगी।
रेजीडेंट साहब को महाराज का घर पर रहना पहले से ही नापसन्द
था और अब तो महारानी की अविद्यमानता मे उन्हें रोकने वाला
भी कोई न था। ऐसी दशा मे महाराज का क्या साहस कि साहब
बहादुर से इन्कार करते। इन्कार करना तो दूर रहा; साहब
पास जाने मे भी इनका दम घुट जाता था। शेर के सामने बकरी
की जो दशा होती है; वैसी ही हालत इनकी भी हो जाती थी।

आखिर नये सैशन से महाराज को 'प्रिंसैस कॉलेज' में भर्ती
करा ही दिया गया और संस्कृत पंडित एवं बंगाली बाबू के बजाय
एक यूरोपियन गार्जियन एवं ट्यूटर रक्खा गया। राज्य के रसोइयों
की जगह 'गोअनीज कुक' रक्खा गया; और पुराने विश्वास पात्र
सेवकों की जगह कई एक अनुभवी बेहरे रक्खे गये। यूरोपियन
गार्जियन का विश्वास था कि जब तक राज्य के पुराने चापलूस
सेवक इनके पास से न हटाये जाँयेगे तब तक महाराज नई रोशनी
को पसन्द नहीं करेंगे, और न पाश्चात्य दृष्टि कोण से भद्र पुरुष
(Gentleman) ही समझे जायेंगे। गार्जियन अपने विचारों का
बड़ा पक्का था और साथ ही दूसरी रियासतों के हाल चाल से भी

ः अपरिचित न था। वह महाराज को नई रोशनी के अनुसार
ादर्श नरेश बनाना चाहता था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस
विचारों में किसी प्रकार की मलीनता न थी; जैसा कि लोग
हा करते थे। समय को नष्ट करना यूरोप निवसियों को पसन्द
हीं होता और वे टाइम-टेबिल की पाबन्दी के दास होकर रहते हैं।
तएव महाराज को सुबह ६ बजे की घंटी बजते ही बेहरा आकर
ठा देता। इसके बाद शौच आदि से निपट ने पर व्यायाम शाला
अन्य लड़कों के साथ उन्हे भी पौन घंटे व्यायाम करना पड़ता
ा। वापिस आने पर वे छोटी हाज़री खाते थे; और बाद में एक
टा साहब पढ़ाता था। कॉलेज के समय मोटर मे बैठकर वे कॉलेज
हुँचने और छुट्टी होने पर वापिस बँगले पर लौट आते। यद्यपि
ॉलेज बहुत दूर नहीं था; अर्थात् मोटर से दो या तीन ही मिनट
गते थे; किन्तु एक रईस होने से इतनी शान तो रखनी ही पड़ती
ी। शाम को खेल में भाग लेना पड़ता था और उसके बाद एक
ंदिर मे सब लड़को के साथ जाना पड़ता, किन्तु यह काम
नको ही नहीं, अपितु कालेज के समस्त विद्यार्थियों को व्यर्थ मालूम
ता था। स्वयं प्रिंसिपल आदि अध्यापक भी इसे पसन्द नहीं
रते थे; किन्तु उसके संचालक रईसों में दो एक वृद्ध पुरुष भी थे;
तब वे यहाँ पढ़ते थे, तभी से मन्दिर जाने की प्रथा चली आ रही
थी। इसी कारण यद्यपि ऊपर के मन मे भी दस मिनट के लिये
मन्दिर में जाना इन नवयुवकों को अखरता था; किन्तु देव स्तुति
समाप्त होने के बाद दो चार मिनट के लिये उन्हें ऊधम मचाने का

अवश्य मौका मिल जाता था। अतः इस टाइम की वे
घाट देखते रहते और जैसे तैसे जल्दी से स्तुति बोल कर
कर देते। नियम तो यह था कि सब धर्मोपदेशक के साथ
बोलें; किन्तु सभी लड़कों को इसमें जल्दी रहती थी। ऐसी
में 'नक्कार खाने की आवाज के सामने शहनाई की आवाज
कौन सुनता ?'

महाराज पढ़ाई की दृष्टि से अच्छे लड़कों में गिने जाते
किन्तु खेल कूद में वे ज्यादा दिलचस्पी नहीं लेते थे। जब
इन्हें गार्जियन खेल में मन लगाने को कहता तो उसके सामने
यस सर (Yes sir) के सिवाय और कोई शब्द इनके मुँह से नहीं
निकलता था। किन्तु अपने मुसलमान खिदमतगार को बुला
उससे यह अवश्य कहते कि–'खेलेंगे कूदेंगे होंगे खराब, पढ़ेंगे लिखेंगे
होंगे नवाब'। इस बात को सुनते ही खिदमतगार महाराज की
तारीफ के पुल बाँध देता और कहता–'वल्लाह क्या फरमाइश
है; खुदा करे महाराज हारूँ रशीद हों'। इस उत्तर से महाराज भी
फूले न समाते थे। जब कभी गार्जियन महाराज को देर तक
खिदमतगारों से बात-चीत करते देख लेता तो फिर उन्हें डाट दिये
बिना नहीं रहता। कभी कभी अधिक गुस्सा आता तो साहब
अंग्रेजी में दो चार गालियाँ भी सुना देता था। गार्जियन एक फौजी
अफसर था। वह सिविलियन की भाँति चुपचाप महाराज की बुरी
आदतें सहन नहीं कर सकता था। तो भी महाराज पर इन बातें
का असर केवल गार्जियन के सामने तक ही सीमित रहता। ज्यों ही

सने पीठ फेरी कि इन्हों ने किसी खिदमतगार के साफे में धप ारी या कैंची से किसी की मूँछें कतर लीं अथवा और ही कुछ तानी की। खिदमतगार भला साहब से कैसे शिकायत कर सकते ? क्योंकि, यदि वे ऐसा करते तो स्वयं ही निकाले जाते। इस के अतिरिक्त महाराज के जेब खर्च का रुपया (Pocket money) भी तो उन (खिदमतगारों) के ही जेब गरम करने मे व्यय होता था। फिर क्या, चाहे पगड़ी उतारो या चाँटा मारो, चाहे चोटी या मूँछे काटो। इन बातों को सहन करने का यह अभिप्राय था कि 'लात खाय पुचकारिये होइ दुधारू धेनु'। अर्थात् महाराज से खिदमतगारों को टकों का लालच रहता था इसी से वे लात खाकर भी चुप रह जाते थे।

महाराज का जैसा दिन का प्रोग्राम था उसी प्रकार रात्रि को दस बजे तक भोजन के पश्चात् पढ़ने का नियम भी बँधा हुआ था; रात्रि के समय उतना प्रतिबन्ध न था जितना कि दिन को। गार्जियन साहब डिनर खाकर क्लब को चले जाया करते थे और वापस बारह बजे से पहले कभी कभी ही लौटते थे। उनके लिये यह ठीक भी था। क्योंकि सारे दिन महाराज से सिर पची करने पर कम-से-कम दो चार घंटे तो क्लब मे जाकर आनन्द में समय व्यतीत करना ही चाहिये। वह यूरोपियन होने से भारतीय मज़दूरों की भाँति रात दिन काम में ही लगे रहना कैसे पसन्द कर सकता था? भारतीय सभ्यता भले ही इसको ठीक न समझे, किन्तु क्लब में जाना तो उसके जीवन का आवश्यक अंग था। साहब के क्लब जाने

के बाद महाराज को संपूर्ण रूप से आजादी मिल जाती थी। बिल्ली की तरह अपने कमरे में हाथ में किताब लिये देखा करते कब गार्डियन हुव जावें। ज्योंही साहब मोटर में बैठते त्योंही किताब को टेबिल पर फेंक, सीधे डाइनिंग रूम में पहुँचते और मेज पर पड़ी हुई बोतलों में से शराब लेकर जल्दी से डकार जाते। इतने में यदि साहब का कोई खिदमतगार आ पहुँचा तो झट पकड़कर अपने कमरे में ले जाते और छोटे से कैश बॉक्स में से कम से कम पाँच रुपये का नोट निकाल कर पकड़ा देते। फिर क्या था; खिदमतगार खुद ही बची खुची 'ह्विस्की' या 'जिन' ले आता। महाराज दो तीन पैग पीकर पलंग पर लेट जाते और जब साहब वापिस आ पहुँचते तो सोते मिलते। साहब खुद ही शराब में मस्त रहता; फिर दूसरा शराब पी भी ले तो बदबू किसको मालूम पड़ती! इसी कारण तो साहब बहादुर को महाराज और खिदमतगारों की इस हरकत का जरा भी पता न लगता। उसे स्वप्न में भी यह विचार न आ सकता था कि इतनी छोटी उम्र का लड़का शराब पी सकता है। उनके देश में तो पन्द्रह या सोलह साल के लड़के यहाँ तक कि उन्नीस बीस वर्ष के नवयुवक भी बच्चे ही गिने जाते हैं। उनको खेल कूद और पढ़ाई के सिवाय अन्य कोई विचार भी नहीं सूझता। तब वह महाराज के लिये कैसे सन्देह कर सकता था और किस आधार पर? साहब तो यह नहीं समझता था कि जैसे यूरोपीयन नव युवकों को अपने पैरों पर खड़ा होना है, वैसे इनको नहीं, क्योंकि इन रईसों के पैरों तले तो बड़े बड़े राज्य हैं; जो धन

र्यादा और ऐश्वर्य से सम्पन्न हैं। राज्य की सम्पदा मिलने में
ते से कोई सरोकार नहीं है। इसी प्रकार वह सदाचारी हो या
भिचारी, स्वस्थ हो या अस्वस्थ अथवा अन्य किसी भी दशा में
ं न हो, जो नरेश है वह राज्य का राजा अवश्य ही बनेगा।
। दृष्टि से इन महाराज में अगर किसी बात की कमी थी, तो यह
अभी इनकी आयु पूरे इक्कीस साल की न हुई थी। अतएव रात
न महाराज उसी दिन की प्रतीक्षा कर रहे थे। मन में सोचते थे
: कहीं अचानक ही लाट साहब न आ जाएँ; वरना स्पीच देना
ठिन हो जावेगा। इन्हीं विचारों में रात्रि भर निमग्न रहते। दिन
तो उन्हें अवकाश ही कहाँ था जो भविष्य की बातें सोच सकें।
भी कभी तो उनको ऐसी शिक्षा पर गुस्सा भी आता था। लेकिन
ह उनके बूते का रोग नहीं था। गार्जियन ने उनको तीन चार बार
ह दिया था कि 'आप खूब याद रक्खें, जब तक आप डिप्लोमा
प्त न कर लेंगे, तब तक राज्य के अख्तियारात आपको नहीं मिल
कते'। इस धमकी ही के कारण वे पढ़ने में मन लगाते थे।
रन्तु पढ़ते कब; जब कि परीक्षा का एक महीना बाकी रह जाता।
सा होने पर भी तीव्र मस्तिष्क शक्ति के कारण थोड़ी अवधि में
ी गई पढ़ाई से ही ऊँची श्रेणी में परीक्षोत्तीर्ण हो जाते थे।

ये छुट्टियों में हर समय राजधानी में नहीं जाने पाते थे।
गर्मी की छुट्टियों में तो इन्हें ऊटी, कश्मीर, मंसूरी आदि पहाड़ी
स्थानों पर गार्जियन के साथ जाना पड़ता था। केवल दशहरे पर ही
राजधानी में जाना होता था और वह भी दस दिन के लिये, क्योंकि

दशहरे की छुट्टियाँ ही कम दिनों की होती हैं। रही बड़े दिन मस डे) की एक महीने की छुट्टियाँ जिनमें महाराज शिकार जंगलों में चले जाते थे। कभी कभी अमरगढ़ के महाराज इनको अपने यहाँ की क्रिसमस पार्टी में शरीक करते थे। कि उन महाराज की निगाह इन नवयुवक महाराज से लौती पुत्री का विवाह करने की ओर लगी हुई थी। परन्तु वहाँ जाना पसन्द न था। कारण, स्वभाव से ये बहुत लज्जावान थे। जितना ही इनको राज्य के बाहर रखने का प्रयत्न किया उतना ही इनके हृदय मे यह विचार दृढ़ होता जाता था कि शासन सूत्र मिलने के बाद राज्य के बाहर कहीं जाऊँगा ही नहीं। समझ मे नहीं आता कि इतनी इनको किसकी झेंप थी। हाँ! खिदमतगा से ये कभी नहीं झेंपते थे; तो फिर न मालूम इस झेंप का कार क्या था?

अमरगढ़ के महाराज बड़े नरेश नहीं थे, किन्तु नरेन्द्र मंडल के प्रमुख सदस्यों में उनकी गणना अवश्य होती थी। कहते हैं कि कोई ऐसा वायसराय न था, जिसके वे परम मित्र न रहे हों। उन्हें भी महाराज का रूखापन खटकता था; परन्तु उनको अप्रसन्न क्योंकर किया जा सकता था? कारण अपनी इकलौती पुत्री का विवाह जो उनसे करना था। छोटे राज्य मे भले ही इनसे योग्य वर क्यों न मिलते हों, पर यह बात उन राज्यवंश की मर्यादा के विरुद्ध थी। तब भला वहाँ की राजकुमारी अपने से छोटी जगह कैसे दी जाती? विवाह से लडकी का जीवन सुखमय रहे यह तो प्रश्न था ही नहीं।

र था तो केवल कुल की मर्यादा का। यही एक कारण सबके
मने मुख्य रूप से रहता था। फिर विवाह में कौन सी अड़चन
? राजकुमारी से तो कोई बात पूछनी थी ही नहीं। अगर पूछना
तो एजेंट साहब से जिनके आधीन वह राज्य था। फिर भी
ारानी को तसल्ली देने के लिये कल्पित पत्रिकाओं पर ज्योति-
ों की अवश्य बहस हुई थी। किन्तु वह भी लोक दिखाई के
ये ही, ताकि ससार को और खासकर राजकुमारी की माता को
सी बात का सन्देह न हो सके। मुख्य ज्योतिषी ने महाराज से
वेदन भी किया, "प्रभुवर! हम सबने दोनों पत्रिकाओं को पूर्ण-
ा देखा और प्रमाण के साथ हम कह सकते हैं कि दोनों बहुत
च्छी मिली हैं। यहाँ तक कि अट्ठाईस गुण मिलते हैं। महाराज!
न-सुख, पुत्र-सुख, राज-सुख, पति पत्नि में पूर्ण प्रेम और दीर्घायु
ादि सभी प्रकार का इस सम्बन्ध से सुख प्राप्त होगा।" महाराज
ं और क्या चाहिये था? बस, जब दोनों राज्य के परम विद्वान्
डित इन पत्रिकाओं का मिलना कह दें तो फिर कोई रुकावट ही
रह जाती थी। किन्तु यह किसी को पता ही न था कि ज्योतिषियों
मुँह चाँदी के तालों से बन्द कर दिये गये हैं, इनका और कोई
ाय भी न था। उन्हें भी आना-कानी करने की क्या पड़ी थी?
ज ज्योतिषी पद थोड़े ही छीना जा सकता था।

इक्कीसवें वर्ष में एक साल और बाकी रहा था। इसीलिये टीका
ा दस्तूर होजाने के बाद ही विवाह आदि की तैयारियाँ होना शुरू
ं गई। एक साधारण गृहस्थ भी कई महिने पहले तैयारी करना

शुरू करता है; तब कहीं जाकर विवाह सफलता पूर्वक है; तब यह तो ऐश्वर्य सम्पन्न राजा ठहरे, इनके यहाँ तो उतना ही कम है।

इधर महाराज को विवाह की कोई खास उमंग न थी, तो यह हर्ष था कि अगले वर्ष राज्याधिकार मिल जाने पर से छुटकारा मिल जायेगा। किसी न किसी तरह इस पढ़ाई गार्जियन से छुटकारा मिल जाय, तब कहीं शान्ति प्राप्त हो। वह दिन भी आगया और महाराज को राज्याधिकार मिल तीन महीने के उपरान्त ही शादी भी हो गई; लेकिन अभी तक छुटकारा न मिल सका। कॉलेज का बंधन तो गया, किन्तु यूरोपीयन साहब ही गार्जियन के बदले उनके सर्कार बना दिये गये।

पाँचवाँ परिच्छेद

महाराज के हाथ में राज्य की बागडोर

वैसे तो एजेन्ट साहब ने दरबार-आम में महाराज को लाट
ाहब की ओर से राज्य के पूरे ही अधिकार दे देने की घोषणा
र दी थी; किन्तु महाराज की अवस्था कम और अनुभव विशेष
था, इसलिये उन पर एक परामर्शदाता रखने का अपरोक्षरूप
। दबाव डाला गया जिसे महाराज अस्वीकार भी नहीं कर
कते थे। फलत: उनकी राय से उन्हीं के ट्यूटर व गार्जियन ही
लाहकार बनाये गये। यद्यपि सलाहकारों का दर्जा प्रधान से भी
धिक माना जाता है, किन्तु अधिकार उन्हें प्रत्यक्ष में कुछ भी
हीं होते। फिर भी राज्य की हर पॉलिसी तथा काम में महाराज
 पूछने या न पूछने पर भी अपनी सलाह देने का उन्हें अधिकार
हता है और उसको मानना या न मानना, नरेश की इच्छा पर
नेर्भर रहता है।

महाराज के उपर्युक्त अंग्रेज सलाहकार कर्नल साहब बड़े भले
आदमी थे; जिन्हें बनावट या प्रपंच बिल्कुल पसन्द न था। साथ
ही उन्हें राजनीति की गुत्थियों से भी पूरी पूरी घृणा थी। वे एक
सैनिक अफ़सर होने के नाते कार्यशीलता में अधिक अनुराग रखने
थे और उन्हें तर्क-वितर्क पसन्द न थी। वे कौंसिल की प्रत्येक बैठक

बीस साल का सेटलमेंट और बजाय अनाज के नकदी लेने का तरीका भी जारी कर दिया गया। इससे राज्य की आय पहले से दुगुनी हो गई। पुराने तालाबों की मरम्मत करा दी गई और छाण (कस्टम्स) में जो कि पहले अधिक था; बहुत कुछ कमी कर दी गई। राज्य के जागीरदार और प्रतिष्ठि पुरुषों को भरोसे के ऊँचे पदों पर नियुक्त किये गए। पुराने धर्मादा अर्थात् सदाव्रत आदि में बिलकुल कमी कर दी गई और उसकी बचत शिक्षण संस्थाओं में लगाई गई। हाथी, घोड़ों की संख्या मे ७५% प्रतिशत कमी, राज्य की सेना का सुधार कर उसे आधुनिक शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित करना, जनरल पुलिस की स्थापना प्रभृति शासन सुधारों का प्रारंभ तो रीजेन्सी के शासन काल ही में हो गया था किन्तु महाराज उनसे सन्तुष्ट न थे, वे तो उन्हें और भी उन्नत देखना चाहते थे। कौंसिल की सब को प्रसन्न रखने की नीति और जागीरदारों एवं कृषकों को बृटिश भारत की भाँति सब अधिकार दे देना भी उन्हें अखरता था। वे आफिस में बैठे हुए इसी विचार में कई घंटे व्यतीत कर देते थे और रात्रि को भी इसी धुन में मदिरा पीते-पीते मस्त हो जाते थे। यों तो राज्य के सम्पूर्ण अधिकार उनके हाथों में थे ही, लेकिन फिर भी उन्हें डर था कि 'कहीं किसी बात से एजेन्ट साहब नाराज़ न हो जायँ और मेरे अधिकारों में कमी न कर दें।' उन्हें देशी नरेश होने से सर्वाधिकार का क्षणिक जोश तो उमड़ आता और वे मन मे कहते भी रहते कि यदि आज ब्रिटिश सरकार न होती तो जागीरदारों और कृषि जातियों को अवश्य अपनी तलवार

में सम्मिलित होते, किन्तु बहुधा महाराज के विचारों में और उनमें पारस्परिक मतभेद ही रहता था। फिर भी वे इस (मतभेद) से डरते नहीं थे; और देखा जाय तो महाराज को ही डरने की आवश्यकता थी। क्योंकि जिस दिन महाराज ने एजेन्ट साहब को लिखा उसी दिन कर्नल साहब की नियुक्ति की स्वीकृति मिल गई थी फिर वे बिना एजेन्ट साहब की स्वीकृति के अपने पद से हटाये भी नहीं जा सकते थे।

महाराज स्वयं अपने राज्य की स्टेट कौंसिल के सभापति थे, जिसमें अन्य विभागों के चार व्यक्ति और थे, जो सदस्य कहलाते थे। राज्य शासन इसी कौंसिल-द्वारा चलाया जाता था। लेकिन कोई सदस्य बिना महाराज की अनुमति के कार्य संचालन नहीं कर सकता था। महाराज यद्यपि अधिक पढ़े लिखे नहीं थे, तथापि कार्य करने का ढंग उन्हें खूब याद था। वे अपने राज्य के विषय में दूसरे अफसरों से अधिक परिचित थे। अस्तु महाराज के ही विचारों के अनुसार शासन कार्य संचालित होता था।

महाराज को रीजेन्सी कौंसिल की शासन-नीति पसन्द नहीं थी। तोभी उन्होंने उस काल में पुराने रिवाजों को पैंदे विठाकर कई एक नये सुधार कर दिये थे; जैसे स्कूलों की स्थापना, शहर और जिलों में अस्पताल खोले जाना, जहाँ सड़कों का नामोनिशान तक न था वहाँ मीलों तक पक्की सड़कें बनवा देना। इसी प्रकार लेन देन के के लिये बैंक और कोऑपरेटिव सोसाइटी की भी स्थापना कर दी गई थी। मालगुज़ारी की वसूली में भी तब्दीली हो गई थी अर्थात्

बीस साल का सेटलमेंट और बजाय अनाज के नकदी लेने का तरीका भी जारी कर दिया गया। इससे राज्य की आय पहले से दुगुनी हो गई। पुराने तालाबों की मरम्मत करा दी गई और डाण (कस्टम्स) में जो कि पहले अधिक था; बहुत कुछ कमी कर दी गई। राज्य के जागीरदार और प्रतिष्ठि पुरुषों को भरोसे के ऊँचे पदों पर नियुक्त किये गए। पुराने धर्मादा अर्थात् सदाव्रत आदि में बिलकुल कमी कर दी गई और उसकी बचत शिक्षण संस्थाओं में लगाई गई। हाथी, घोड़ों की संख्या में ७५% प्रतिशत कमी, राज्य की सेना का सुधार कर उसे आधुनिक शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित करना, जनरल पुलिस की स्थापना प्रभृति शासन सुधारों का प्रारंभ तो रीजेन्सी के शासन काल ही में हो गया था किन्तु महाराज उनसे सन्तुष्ट न थे, वे तो उन्हें और भी उन्नत देखना चाहते थे। कौंसिल की सब को प्रसन्न रखने की नीति और जागीरदारों एवं कृषकों को वृटिश भारत की भाँति सब अधिकार दे देना भी उन्हें अखरता था। वे ऑफिस मे बैठे हुए इसी विचार में कई घंटे व्यतीत कर देते थे और रात्रि को भी इसी धुन मे मदिरा पीते-पीते मस्त हो जाते थे। यों तो राज्य के सम्पूर्ण अधिकार उनके हाथों में थे ही, लेकिन फिर भी उन्हें डर था कि 'कहीं किसी बात से एजेन्ट साहब नाराज़ न हो जायँ और मेरे अधिकारों मे कमी न कर दें।' उन्हें देशी नरेश होने से सर्वाधिकार का क्षणिक जोश तो उमड आता और वे मन में कहते भी रहते कि यदि आज ब्रिटिश सरकार न होती तो जागीरदारों और कृषि जातियों को अवश्य अपनी तलवार

का मजा चखा देता। इसके बाद महाराज ने कौंसिल में यह प्रस्ताव भी रखा दिया कि "राज्य के जागीरदारों के यहाँ पैदल या सवारों को, जोकि सेना के नाम पर रहते आये हैं; रखने की प्रथा तोड़कर उनसे नक़द रुपये लिये जाएँ।" इस प्रस्ताव से राज्य की आय में एक लाख की वृद्धि होती थी, अतः महाराज की इस राय का सब सदस्यों ने समर्थन किया, परन्तु कर्नल साहब ने महाराज से कहा कि—'आप एक प्रथा को, जोकि कई शताब्दियों से चली आरही है, तोड़ते हैं। क्या उसमें सुधार नहीं किया जा सकता है ?' इस पर महाराज ने उत्तर दिया कि—"आपका कहना ठीक नहीं; इस सुधार से राज्य को क्या लाभ ? हाँ, लाभ यदि होगा तो जागीरदारों का कि जिनकी सैनिक ताक़त बढ़ जायगी, और संभव है, कि आगे चलकर वे राज्य का सामना भी कर बैठें।"

कर्नल साहब बोले—"नहीं, आप भूल करते हैं और इन लोगों को विरोधी बनने का अवसर देते हैं।"

महाराज ने कहा—"नहीं, मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि अभी तो कोई खतरा नहीं है, लेकिन आगे चलकर ये लोग राज्य के विरुद्ध कांग्रेस की तरफ मिल सकते हैं; इसलिये मैं चाहता हूँ कि इनको ऐसा मौक़ा ही क्यों दिया जाय ?"

कर्नल साहब—"मैं समझता हूँ कि इसका उलटा ही परिणाम होगा। आज उनको अपने घर और जागीर की रक्षा करने तथा राज्य की सहायता करने में जो दिलचस्पी है, वह आगे चलकर न रहेगी। आप इस बात का भरोसा रक्खें कि हमारी अंग्रेज जाति

इतनी मूर्ख नहीं है कि परम्परा गत प्रथाओं की दास बनी रहे। जो विचार आप के मन मे उठ रहे हैं, वेही विचार हमारे देश में गत शताब्दि में जागृत हो गये थे, किन्तु वे पनपने नहीं पाये। उनका निराकरण किस प्रकार हुआ और जो थोडी भूल हुई; उसका परिणाम क्या हुआ, जिसको आप स्वयं सोच सकते हैं।"

महाराज—"साहब ! आपतो अपने देश की बातें कर रहे हैं जो यहाँ पर लागू नहीं हो सकतीं। यह तो भारत है जहाँ राजा को सब कुछ अधिकार हैं। आखिर जागीरें राजा की ही दी हुई तो हैं; वह चाहे तो उन्हे वापस छीन भी सकता है, किन्तु मेरा इरादा ऐसा कतई नहीं है।"

कर्नल साहब—"मेरे जो विचार थे उन्हे तो प्रकट करना मेरा कर्त्तव्य था; क्यों कि मैं महाराज का सलाहकार हूँ। आगे जैसी आपकी इच्छा हो।"

महाराज (हँसकर)—"बहुत अच्छा साहब, आपका कहना बिल्कुल ठीक है"। इसके बाद अन्य मेम्बरों की ओर देखते हुए उन्होंने पूछा—"आप सब मेम्बरों की राय तो मेरी राय से भिन्न नहीं है ?"

चारों मेम्बर—"नहीं, अन्नदाता।"

तत्काल ही महाराज ने सेक्रेटरी की ओर देखकर कहा—"तो इस प्रस्ताव को आज्ञा के रूप मे लिख कर हमारे हस्ताक्षर के उपरान्त राजकीय-आज्ञा-पत्र (गजट) मे प्रकाशित करा दिया जाय और इसका ध्यान रहे कि दो मास के भीतर २ इसका पूर्ण रूप

से पालन भी हो जावे। एक बात मुझे और स्मरण हो आई है, वह यह कि पैदल और सवार रखने की अपेक्षा जो अब नक़द रुपये लिये जावेंगे, वे किस हिसाब से, अर्थात् हर पैदल व सवार का खर्चा किस सिद्धान्त पर वसूल किया जावेगा, यह भी तो अभी निर्णय कर लिया जाय। कर्नल साहब! क्या आप इस बात को तो सुझा सकते हैं?"

कर्नल साहब—"अगर महाराज को नकद रुपये लेना ही है तो जो वेतन राज की सेना को उस समय मे मिलता था, जब कि यह प्रथा प्रचलित की गई थी; उसी के अनुसार लेना चाहिये।"

महाराज ने हँसते हुए कहा—"उस समय तो पैदल को ३) रु० और सवार को ५) रु० मासिक दिये जाते थे।"

कर्नल साहब—"बस तो, फिर उसी हिसाब से इनसे भी ले लेना चाहिये। मेरी दृष्टि में यही उचित होगा।"

महाराज—"इस प्रकार तो हिसाब बहुत कम पड़ेगा। मेरी राय में जो वेतन भारतीय सेना मे दिया जाता है, उसी दर से प्रति सवार और पैदल का लिया जाना उचित होगा।"

कर्नल साहब—"मैं समझना चाहता हूँ कि क्या इनको जागीरें सैनिक सहायता पहुँचाने के लिये दी गई थीं? जैसे कि मुग़ल साम्राज्य के शासन में मनसबदार होते थे।"

महाराज—"हाँ, कुछ को तो इसी उद्देश्य से जागीरें दी गई थीं, कुछ ऐसे हैं जिनको भाई बटवारों में, और दो-चार जागीरदार ऐसे भी हैं जिन्होंने अपनी कृपाण के बल से राज्य विजय

किया था तो भी उन्होंने प्रसन्नता से राज्य की अधीनता स्वीकार की थी।"

कर्नल साहब—"अच्छा, अब मैं समझा कि जागीरें सब एक प्रकार की नहीं हैं, तब तो एक सिद्धान्त सब पर क्यों कर लागू किया जा सकता है ?"

महाराज—"प्रबंध संबंधी कठिनाइयों को मिटाने और राज्य की आय बढ़ाने के लिए तथा सिद्धान्तों का समन्वय किया जाने से सुभिता भी रहता है।"

कर्नल साहब—"अगर आपका अभिप्राय सुभीते से है तो आप संघ-शासन में अपनी रियासत को मिलाने में आना कानी क्यों करते हैं ? और जब कभी एक ही सिद्धान्त पर शासन प्रणाली स्थिर करने का प्रश्न उपस्थित होता है; उस समय सनद (Sanad) और सन्धि (Treaty) वाले राज्यों में जो अंतर है, उसे ज्यों का त्यों स्थिर रखने के लिये आप सब नरेश नरेन्द्र-मंडल में इकट्ठे होकर प्रस्ताव क्यों पास किया करते हैं ?"

महाराज—"देशी राज्यों और जागीरदारों में बहुत अन्तर है।"

कर्नल साहब—"सिर्फ नाम मात्र का।"

महाराज—"नहीं साहब, और भी विभिन्नता है। देशी राजाओं ने तो सन्धि द्वारा सम्राट के नीचे रहना स्वीकार किया है और ये जागीरें तो हमारी खुशी हो तभी तक रह सकती हैं वरना चाहें तो ये आज ही छीनी जा सकती हैं।"

कर्नल साहब—"आप स्वयं बतला चुके हैं कि कुछ जागीरें

हमारी दी हुई नहीं हैं, किन्तु उन्होंने केवल आधीनता स्वीकार कर ली है, और युद्ध सेना रखने के लिये तथा बाकी की भाई बटवारों में दी गई थीं। तब क्या आप, जिस पट्टे पर जो जागीर पा चुका है, उसका पालन करना नहीं चाहते ?"

महाराज—"चाहने का तो सवाल ही नहीं रहता, जब कि समय पलट गया है, तो निरर्थक ऐसी जागीरें रखना भी मैं अनिवार्य नहीं समझता।"

कर्नल साहब—"अगर ब्रिटिश सरकार आज सब सन्धियाँ न माने और व्यर्थ (Scraps of paper) कागज के टुकड़े ही समझने लगे तो आप नरेशों की क्या दशा होगी ? इसके अलावा जो सन्धि के समय ब्रिटिश सरकार को आप की रियासत से कर (Tribute) देना तय हुआ था, वह अगर बढा दिया जाए तो ?"

महाराज (हँसकर)—"क्या ऐसा भी हो सकता है ? साहब ! आप तो जागीरदारों का बड़ा पक्ष कर रहे हैं। ख़ैर, आप छोड़ें इस प्रश्न को। मेरी दृष्टि मे प्रति पैदल १५) और सवार ३०) की दर से नकद रुपये लिये जायँ तो अनुचित न होगा। क्यों फाइनेंस मेम्बर साहब ! ठीक है न ?"

फाइनेंस मेम्बर—"हाँ, महाराज ! आमदनी बढाने के उद्देश्य से यह अति हितकर रहेगा।"

महाराज—"अच्छा तो यह निश्चित हुआ कि नकद रकम १५) और ३०) की दर से ली जाय।" अब इस काम मे बहुत समय

लग गया है खैर, हाँ तो साहब ! कल मेरा विचार शिकार के लिये जाने का है; आप को भी चलना होगा। सुना है तालाबो में आड़ें और चायें (Snipes) अधिक मात्रा में आगई हैं।"

कर्नल साहब—(हँसकर) हाँ, मैं भी सहर्ष चलूँगा। तदन्तर वह हँसता हुआ महाराज से हाथ मिलाकर रवाना हो गया। उसे रास्ते में विचार आया कि "महाराज मुझे प्रसन्न करना चाहते हैं; किन्तु इस तरह से हमारी जाति पिघलाई नहीं जा सकती"।

कर्नल साहब एक शुद्ध हृदय और सत्यनिष्ट साहब थे, जैसे कि फौज मे कभी २ देखने में आते हैं। उसको दु.ख था तो इस बात का कि—"मैंने महाराज को शिक्षा दी है इसलिये मेरा विरोध करना महाराज की बदनामी का कारण होगा। और मेरी दी हुई शिक्षा को भी बट्टा लगे बिना न रहेगा। इन कारणों को लेकर कभी कभी उस के मन मे उथल-पुथल मच जाती थी परन्तु उसको भी अपने दिन निकालने थे अत मन मार कर रह जाता। यद्यपि एजेन्ट साहब की आज्ञा उन्हे केवल तीन ही वर्ष रहने की थी तथापि ये फिर वहीं टिका दिये गए और महाराज को भी उसकी आड में मनमानी करने का अच्छा अवसर मिला।

मनुष्य की प्रकृति वृद्धावस्था मे तब तक बदल नहीं सकती जब तक कि उसके दिल को कोई विशेष धक्का न पहुँचे या यथेष्ट प्रलोभन (Temptations) उस ओर से न मिले। स्वभाव पड़ जाने पर उसको बदलना या छोडना कोई साधारण काम नहीं है। अस्तु कर्नल साहब वहाँ रहना तो अवश्य पसन्द करता था, किन्तु अपने

खरे स्वभाव को छोड़ने से विवश था। अतः अवसर आने पर वह महाराज को साफ सुना भी देता, भले ही वे उसे मानें या न मानें, यह तो अपना कर्त्तव्य पालन कर ही देता था।

महाराज ने अपने राज्य के नौकरों में अधिकतर वे ही अफसर पाये जो राज्य के पुराने घरानों में से थे, और कुछ जागीरदार तथा उनके कुटुंब के थे। ये सब रीजेन्सी कौंसिल के युग में विभिन्न पदों पर रक्खे गये थे। किन्तु उनको उच्च और विश्वसनीय पद देने की नीति महाराज को पसन्द न आई। क्योंकि उन्हें भय था कि उनके सुधारों में कहीं ये लोग अड़चनें न डाल दें। इसी कारण को दिल में रखते हुए दूसरे कई कारण बताकर उन्होंने इनमें कमी करना शुरू किया। प्रकट में खास कारण सब को यह बताया गया कि—"जिनके जागीर और पूरी जायदाद है, उनको राज्य की नौकरी की आवश्यकता नहीं है। यदि वे चाहें तो बिना वेतन लिये काम कर सकते हैं। प्रत्येक जाति के व्यक्ति बिना किसी भेद भाव के राज्य-सेवा में होने चाहिये। किन्तु उसके पूर्व उन्हें परीक्षा देनी होगी। मैं स्वयं परीक्षा लूँगा और उत्तीर्ण होने की हालत में ही उन्हे नौकरी दी जायगी। राज्य-वासी पठित एवं योग्य व्यक्तियों का अभाव होने पर बाहर के लोग बुला कर नौकर रक्खे जायेंगे।"

इन आदर्श विचारों के लिये किसको शिकायत हो सकती थी? अगर थी, तो केवल उनको, जिनकी कि रोटी छिनती थी। महाराज के उपरोक्त विचारों की समाचार पत्रों में बड़ी प्रशंसा छपी। एक

प्रमुख पत्रकार ने तो यहाँ तक लिख दिया था कि—"महाराज के इन सुधारों से विश्वास होता है कि आप किसी एक जाति को बहुमत में न रखकर सभी जातियो को समान अधिकार देने का उद्योग कर रहे हैं, जो सराहनीय है; और भविष्य मे भी आशा की जा सकती है कि महाराज के शासन काल में भी प्रजा को राज्य-कार्य संचालन में हाथ बटाने का अवसर दिया जायगा।" इसी उद्देश्य से महाराज ने कुछ पत्रों मे इस प्रकार विज्ञापन छपवाया:—

"आवश्यकता है कुछ ऑफिसरों की जो नौजवान हों और कम से कम बी० ए० पास हों; उम्र में ज्यादा से ज्यादा २५ साल हो, देखने मे हट्टे कट्टे हों, जाति पाँति का कोई सवाल नहीं। पहले फोटो और सर्टीफिकेट भेजें, पसंद होने पर इन्टरव्यू के लिये बुलाया जायगा।"

आज कल की शिक्षा प्रणाली ने पढ़े लिखे बेकारों की संख्या तो बेहद बढ़ा ही दी है, फलतः ऊपर लिखे हुए विज्ञापन के छपने की ही देरी थी कि हजारों की तादाद मे अर्जियाँ (applications) आगई और वे भी फोटो के साथ। पहले तो बेकारी की हालत, उसमे फिर फोटो खिचाने व अर्जियो को रजिस्टर्ड भेजी जाने मे उन बेकारों को आशा ही आशा में अपनी बची खुची पूँजी भी खर्च कर देनी पड़ी। यद्यपि पसन्द आने पर उम्मीद तो बहुत कुछ की जा सकती थी; लेकिन सबके लिये आशा करना बेकार ही था, क्योंकि कुल बीस ही अफसरों की आवश्यकता थी, किन्तु सब लोग अपनी अपनी आशा क्यो न करते ? प्रत्येक उम्मेदवार अपने

को दूसरे से कम योग्य थोड़े ही समझता था। कमी थी तो किस्मत व नूर की।

मनुष्य की बेकार अवस्था उसके दिमाग़ को शैतान का कारखाना बना देती है। वह न जाने क्या २ सोचा करता है। हमेशा हरे ही हरे दिन आने की प्रतीक्षा में वह अपनी आयु का न जाने कितना हिस्सा व्यर्थ बिता देता है। लेकिन सच बात तो यह है कि हर एक मनुष्य अपने सुख और ऐश्वर्य की बढ़ती देखना चाहता है। वह पग-पग पर अपनी तक़दीर को कोसा करता है, यह नहीं सोचता कि दुःख और सुख का जोड़ा है, जैसे शरद ऋतु के पीछे गर्मी का मौसम आता है और इसके पश्चात् वर्षा ऋतु। ठीक इसी प्रकार दुःख और सुख भी हैं। यों तो जब एक बड़ा सम्राट् भी अपनी स्थिति से सन्तुष्ट नहीं होता; तब बेकारों से सन्तोष रखने की क्या आशा की जा सकती है ?

हाँ तो, विज्ञापन के छपने पर धड़ाधड़ दरख़्वास्तें मय फ़ोटो के इतनी अधिक संख्या में आई कि महाराज का एक घंटा प्रति दिन उनको पढ़ने और फ़ोटो देखने में लगने लगा।

इसके कुछ ही महीने बाद वे 'इन्टर व्यूज़' देने लगे; और जिसमें २२ गुण पाये गये, उसी की नियुक्ति की गई। बाईस गुण क्या थे ? उनका वर्णन करने से राज्य की गुप्त पॉलिसी पर प्रकाश पड़ने का भय है अतः भ्रम भरा रहे इसीसे.......... ।

छठा परिच्छेद

शिकार का शौक

महाराज राज्य के काम काज में कम दिलचस्पी नहीं लेते थे। यहाँ तक कि दौरे के समय भी वे शिकार खेलने के अतिरिक्त राज्य के दैनिक कार्यों को भी करते रहते थे। उनकी शिकार में अत्यन्त रुचि थी। प्रति दिन मध्याह्न के पश्चात् चाहे गर्मी हो चाहे सर्दी, वे शिकार के लिये अवश्य ही जाते।

एक दिन की बात है कि महाराज के एक वृद्ध सरदार ने तंग आकर उनसे कहा—"हुजूर का शिकार में इतनी रुचि रखना अच्छा नहीं है। स्वर्गीय महाराज तो सिवाय सिंह की शिकार के दूसरे जानवरों को मारते ही न थे। उनका फरमाना था कि अकारण ही किसी जीव की हत्या करना उचित नहीं है।" सरदार का ऐसा कहना हुआ कि महाराज गुस्से में होकर कहने लगे:—"तुम वृद्ध हो गये हो, अतः तुम मे तो बुद्धि की कमी होना स्वाभाविक ही है। वाह ! क्या भगवान् रामचन्द्र मृग का शिकार न करते थे ? क्या कालीदास के शकुन्तला नाटक से पता नहीं चलता कि दुष्यन्त को मृगया से कितना अनुराग था ? इनके अतिरिक्त अन्य कई एक राजा-महाराजा आखेट खेलते हैं। इसमें क्या हानि ? मैं तो समझता हूँ कि इसी (शिकार) के बहाने से राज्य

का भ्रमण (दौरा) हो जाता है और जिन स्थानों पर कभी जाने का अवसर ही नहीं आता; वे भी देखने में आ जाते हैं तथा इससे स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है; वरना बैठे २ आदमी उकता कर थक जाता है।"

महाराज के युक्ति संगत तर्क के सामने बेचारे सरदार का क्या साहस था कि कुछ बोल सके; यहाँ तक कि प्रत्युत्तर में सिवाय 'जी हुजूर' के वह कुछ भी न बोल सका। ऐसा क्यों न हो ? आखिरकार वह सेवक ही तो ठहरा। अपने स्वामी के सम्मुख तर्क करना भी स्वामिभक्ति के विरुद्ध था। हाँ, उसका कर्त्तव्य था कि महाराज को जो शिकार का दुर्व्यसन था उसके लिये उन्हें कुछ साफ अर्ज कर देवे, सो उसने ऐसा कर ही दिया था।

महाराज से जब कोई व्यक्ति तर्क कर बैठता तो उसको लेने के देने पड़ जाते थे। उनके तर्क व विद्वता के सामने बिरले ही टिक सकते थे। महाराज ने पुनः झुँझलाकर कहाः—"तुम्हें मालूम होना चाहिये कि स्वर्गीय महाराज एक पुराने नरेश थे। वे सबकी अच्छी बुरी सुनकर शान्त रह जाते थे किन्तु मुझ में वैसी सहन शक्ति नहीं है और न मैं अपने नौकरों से सुनना ही चाहता हूँ। मुझे यह भी पसन्द नहीं है कि कोई मेरी बातों में तर्क-वितर्क या कार्य में हस्तक्षेप किया करे। मैं चाहता हूँ कि जो कुछ मैं कहूँ उसका अविलम्ब पालन हो। मैं अपने राज्य का अधिपति हूँ, यही नहीं, सम्राट् हूँ। पॉलिटिकल डिपार्टमेंट भी मेरे राज काज में हस्ताक्षेप नहीं कर सकता।"

महाराज को लेक्चरबाजी का बड़ा चाव था। वे हमेशा अपने नौकरों को छोटी २ बातों पर लेक्चर झाड़ देते थे। चाहे वे लोग उसे समझें या न समझें, उन्हें इससे कुछ मतलब नहीं था। वे तो दैवी, अधिकार (Divine Rights) के अनुयायी थे और सदा अपनी आज्ञा पालन कराने के लिये नौकरों को विवश करते थे। यहाँ तक कि कभी २ उन्हें निकाल भी देते थे। महाराज को कौन परिचय दे कि—"जो इकरार नामे ब्रिटिश सरकार व देशी राज्यों के बीच में सन् १८१८ में तय पाये गये हैं उनकी पाबन्दी सन् १९०० में नहीं हो रही है।" किसी ने सच कहा है कि— Treaties are mere scraps of paper'—(अहदनामे केवल कागज़ के टुकड़े मात्र हैं) और कुछ समय बाद उनका पालन होना भी बहुत ही कठिन हो जावेगा। जिस मनुष्य के पास सत्ता है वह अपना बुरा, सोचने ही क्यों लगा ? उसे तो अपनी सत्ता का मद रहता है और यदि उसको कोई विचार है भी तो केवल अपनी सत्ता को स्थिर रखने का।

यह स्वप्न में भी भान नहीं हो सकता था कि ऐसी विनाशकारी शक्तियाँ (Destructive forces) भारत में कार्य कर रही हैं कि जिनको बल मिलने पर देशी राज्यों का अस्तित्व रहना बहुत ही कठिन है। प्रत्युत् कहीं ऐसा न हो कि देशी राज्य का नाम भी न रह पाये। किन्तु जब रूस के ज़ार तक को इसकी परवाह न हुई तो इनको भी चिन्ता क्यों होने लगी ? ज़ार को केवल एक ही 'रासपूटीन' के षडयन्त्र से साम्राज्य तथा निज जीवन से हाथ

धोना पड़ा था। विपरीत इसके देशी राज्यों में आज कई एक 'रासपूटीन' दिखाई देते हैं जिनका अभी उन (नरेशों) को आभास ही नहीं है। समय आने पर उन्हें ज्ञात होगा कि इन देशी राज्यों के रासपूटीनों के षड्यन्त्रों का क्या प्रभाव है ? किन्तु यह बोध उन्हें उस समय कोई लाभ न पहुँचा सकेगा, जब कि वे विनाश के पथ पर पहुँच गये हों।

महाराज के राज्य में जंगलों की अधिकता थी। जिनकी देख रेख का प्रबन्ध स्वयं उनकी निगरानी में होता था। जंगलों से लकड़ी या घास काटने की मनाही थी। यहाँ तक कि यदि किसी कृषक को घास या लकड़ी की आवश्यकता होती तो उसे बड़ी कठिनाई से 'परमिट' मिलती थी। अधिकांश जंगल शिकारगाह में शुमार किये जाते थे जिनमें से घास लकड़ी आदि काटने की किसी को भी इजाजत नहीं दी जाती थी। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे जंगल जो खुले जंगल कहलाते थे, आम तौर पर उनमें से लोगों को लकड़ी व घास काटने की अनुमति दी जाती थी। पहले तो ऐसे जंगल बहुत ही कम थे और जो थे भी तो उनमें भी घास व लकड़ी की बाहुल्यता न थी। काश्तकार से लेकर जागीरदार तक को घास और लकड़ी के लिये बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। इतना होते हुए भी, यह किसी का साहस न होता कि महाराज की आज्ञा का उल्लंघन कर सके। जो जंगल जागीरदारों के अधिकार में दीर्घकाल से चले आते थे, उन्हें भी महाराज ने शिकारगाह में ले लिये और उन जंगलों के बीच में अगर कहीं आबादी आ गई तो

वहाँ के निवासियों को दूसरी जगह बसने की आज्ञा दी जाती थी। उन को वैसे तो अपना स्थायी निवास स्थान छोड़ने में दुःख होता था परन्तु वे मुदित थे कारण कि शिकारगाह के आसपास बसने में हिंसक जन्तुओं से उनकी खेती बाडी नष्ट हो जाती थी और उन्हे अपने व पशुओं के प्राणों का सदा भय बना रहता था क्योंकि उन्हे हिंसक जन्तु मारने की स्वीकृति न थी। अस्तु उनके लिये अन्य कोई उपाय न था। फल यह हुआ कि कई एक गाँवों की प्रजा, जो वृटिश भारत की सीमा के पास बसती थी वह वहाँ जा बसी और शेष उक्त (जौनपुर) राज्य में ही अन्यत्र जाकर आबाद हुई। इसमें प्रजा-जनों को जो कष्ट हुआ, उसका अनुभव वही व्यक्ति कर सकता है जिसको इन घटनाओं को देखने का अवसर हुआ हो।

एक समय की बात है कि महाराज का कैम्प एक गाँव के पास लगा हुआ था, जहाँ क किसी काश्तकार ने तंग आकर चीतलों के गुराड में गोली चला दी जिससे एक चीतल जख्मी हो गया। महाराज ने दूसरे दिन पास ही के जंगल में हाका (Beat) लगवाया, संयोग-वश वही जख्मी चीतल सामने आया जो महाराज के हाथों मारा गया। महाराज ने जब उस मारे हुए चीतल पर पुराने जख्म देखे तो वे बड़े नाराज हुए और गाँव के कुल काश्तकारों को जोकि 'हाका' लगा रहे थे, इकठ्ठा किया। महाराज ने उन्हें डरा धमका पूछताछ की कि किसने उस चीतल पर गोली चलाई थी। बेचारे काश्तकार डर के मारे कैसे कहें कि उनमें से अमुक ने जानवरों से तंग आकर गोली चलाई थी।

उनकी इन्कारी पर महाराज ने दंड स्वरूप इस गाँव वालों के पास जो दो चार पुरानी तोड़ेदार बन्दूकें थीं, छीन लीं और उन्हें यह सजा दी गई कि एक सप्ताह तक वे प्रतिदिन महाराज के साथ जंगलों में हाका लगाने के लिये जावें। इसके अतिरिक्त तीन आने रोज प्रत्येक काश्तकार को जो हाका लगाई की मजदूरी बख्शीश के रूप में दी जाती थी, वह भी बन्द कर दी गई और प्रतिदिन सायंकाल को थकान दूर करने के लिये जो शराब पिलाई जाती थी, उसको भी बन्द कर दिया गया। ग्रामीणों के एक सप्ताह के कठोर परिश्रम का परिणाम यह हुआ कि कई दिन तक मारे थकान के वे अपनी खेती का काम धंधा न सँभाल सके। उनमे से दो-चार वृद्ध और निर्बल जनों की तो यह दशा हुई कि असाध्य बीमार होकर संसार से विदा ही हो गये। एक सप्ताह तक खेतों की देखभाल न होने से सारी फ़सल चौपट हो गई और इस अंधाधुन्धी से अन्न का एक दाना भी हाथ न लगा। अतः दूसरी फ़सल के पनपने तक उन्हें कन्दमूल पर ही अवलंबित रहना पड़ा।

महाराज अपने मित्रों आदि से सदा कहा करते थे कि—"मैं अपने राज्य की प्रजा से बेगार नहीं लेता हूँ और मैंने यह नियम भी कर रक्खा है कि तीन आने रोज़ प्रत्येक हाकेवाले को दिये जावें।" किंतु उन्हें इस बात का तनिक भी ध्यान नहीं था कि काश्तकार इतनी कम मजदूरी मे अपना व अपने बाल-बच्चों का किस प्रकार पेट पालन कर सकता है? प्रत्युत महाराज को तो

इस बात का अभिमान था कि दूसरे राज्यों में बिना कुछ दिये ही हाका लगवाया जाता है, विपरीत इसके वे तो शुल्क देते तो हैं।

महाराज का शिकार का शौक इतना बढ़ा था कि वे अपने बड़े से बड़े जागीरदार को भी शिकार करने की इजाज़त नहीं देते थे। और तो रही दूसरी बात लेकिन उनके खास मेहमान तक भी बिना उनकी इच्छा व अनुमति के शिकार नहीं कर सकते थे और अवसर आए जहाँ तक उनकी बन पडती, वे अपने मेहमानों को शेर का शिकार नहीं कराते थे। एक समय की बात है कि एक रिश्तेदार नरेश उनके मेहमान बनें। उनकी पूरी इच्छा थी कि उन्हें एक शेर का शिकार कराया जाय। दो चार बार कहने पर अंत में महाराज अपने मेहमान को शेर का शिकार खेलाने ले गए। किंतु महाराज ने सहचर शिकारियों को चुपचाप हुक्म कर ऐसा प्रबंध करा दिया था कि मेहमान की शेर पर दृष्टि तो पड जाय, पर उसे वे मार न सकें। शिकारी लोग महाराज के स्वभाव से परिचित थे ही अतः उनके मन की बात ताड गए कि यदि उनकी आज्ञा का पालन न हुआ तो उन्हें न जाने क्या दंड भोगना पडेगा निदान उन्होंने महाराज की इच्छा के अनुरूप काम किया। एक सहचर शिकारी ने मेहमान नरेश के मचान के आगे ५० फीट की दूरी पर एक सफेद कपडा वृक्ष पर इस चालाकी से बाँध दिया कि उस कपड़े को मेहमान न देख पायें। फिर हाका लगने पर शेर जंगल में से निकला और ठीक मेहमान के मचान की ओर बढ़ने लगा। मेहमान को शेर आता दिखाई दिया और वे प्रसन्न हो गये, किंतु शेर

की दृष्टि जब कपड़े पर पड़ी तो वह गर्जकर वापिस हाँके वाला की तरफ लौट गया। मेहमान के दिल में यह बात आई कि शेर ने मुझे देख लिया है, इसी कारण से वह चला गया। उन्हें यह संदेह तो बिल्कुल न हुआ कि महाराज ने उनके साथ चाल चली। मेहमान जब महाराज से मिले तो उन्होंने शिकार के प्रबन्ध की तो बड़ी ही प्रशंसा की, और कहा कि उनके भाग्य में शेर का शिकार नहीं था वरना उन्होंने शेर तो देख ही लिया।

महाराज के कुछ ही वर्षों के शासन काल में जंगली पशुओं की संख्या बहुत ही अधिक बढ़ गई थी। यहाँ तक कि खेती में इतनी हानि होने लगी कि प्रति वर्ष अनाज की उपज न्यून ही होती गई। किंतु महाराज को इसकी परवाह न थी और न उनको कम उपज का कारण ही प्रतीत हुआ। वे तो यह समझते थे कि जैसे अनाज की निकासी दूसरे राज्यों से ब्रिटिश भारत में होती है, वैसे ही मेरे राज्य से भी निकासी होती हो। इससे अनाज का भाव बढ़ता ही जा रहा था। अतएव महकमा डाण को हुक्म दिया गया कि अनाज की निकासी बिल्कुल बन्द की जावे। पर इससे गरीबों को कुछ लाभ नहीं हुआ। वे अनाज की कमी के कारण कठिनाई का सामना करते ही रहे। जो लोग राज्य के बाहर से अनाज मँगाते उन्हें डाण (महसूल) चुकाना पड़ता था, इसलिए अनाज सस्ता नहीं मिलता था। काश्तकार खेती के अलावा और कोई धंधा भी नहीं करते अतः जब खेती ही जंगली जानवरों के द्वारा नष्ट हो जावे तब उनकी उदरपूर्ति का साधन क्या रह सकता है ? अतएव उनकी

आर्थिक स्थिति दिन पर दिन गिरती ही रही और वे भूमि कर (लगान) जमा कराने में असमर्थ होगए। इस तर जागीरदार व राज्य कर्मचारी नियत समय पर मालगुजारी जमा न कराने से उन्हें जमीन से अधिकार च्युत करने की कार्यवाही करने लगे। इतने पर भी बेचारे काश्त कार भेड बकरी की भांति चुपचाप रहे, और भूखे प्यासे रहते हुए कठिन आपत्तियों का सामना किया।

काश्तकारों में जो वृद्ध थे और जिन्हों ने स्वर्गीय महाराज का शासन काल देखा था, वे सदैव अन्य काश्तकारों को आश्वासन देकर धीरज दिलाते थे। क्यों कि उन्हें इस बात का विश्वास था, कि नवयुक महाराज भी कुछ अनुभव के पश्चात् स्वर्गीय महाराज के समान ही दयालु होंगे। ऐसी आशा ने ही उन्हें सदैव शान्त रक्खा और यही कारण था कि जब महाराज के शिकार के व्यसन ने उन्हें शान्ति से नहीं रहने दिया, तब भी वे स्वामि-भक्त बने ही रहे।

सातवाँ परिच्छेद

जागीरदार जाँच कमेटी की नियुक्ति

महाराज को शासन की बागडोर हाथ में लिये लगभग दो वर्ष व्यतीत हो गये और कर्नल साहब के विदा होने में केवल एक ही वर्ष बाकी रहा था। महाराज को अपने राज्य में जागीरों का विशेष उन्नत होना और जागीरदारों का संपन्न होना असह्य था। वे चाहते थे कि किसी प्रकार जागीरदारों के स्वत्व कम किये जायँ और उनके अधिकार जो पहले से थे, उनमें भी कमी कर दी जावे। इसी प्रकार महाराज को सामंतों के हाथ में न्याय संबन्धी अधिकार रहना भी खटकता था। जागीरदार राज्य को जो वार्षिक कर देते थे वह भी वर्तमान आय की अपेक्षा कम था। इस आधार पर महाराज ने निश्चय किया कि एक कमेटी नियुक्त की जाय जिसके सभापति कर्नल साहब रहें; ताकि जागीरदार लोग राज्य के विरुद्ध कोई आन्दोलन न खड़ा कर सकें। महाराज को जागीरदारों का भय था, इसलिए कार्य प्रारंभ करने के पूर्व कर्नल साहब से परामर्श लेना आवश्यक समझा, और एक दिन चाय के लिये साहब को निमंत्रित किया। अन्य बात-चीत होने के पीछे महाराज कहने लगे— "साहब ! आपको यहाँ रहते दो साल व्यतीत हो चुके हैं और संभव है आप शीघ्र ही अपनी जगह लौट जाँय। इसलिये मेरी आकांक्षा

है कि आप राज्य की एक और सेवा करके जायँ तो अच्छा हो। मैं चाहता हूँ कि आप जागीरदारान-इंकायरी-कमेटी के चेअरमैन होना स्वीकार करें।"

कर्नल सा०—"इस कमेटी को नियुक्त करने में महाराज का क्या अभिप्राय है ?"

महाराज—"इस कमेटी की नियुक्ति से मेरा अभिप्राय यह है कि वह जागीरदारो के स्वत्वाधिकार आदि का निर्णय कर अपनी रिपोर्ट पेश करे, जिसमे यह प्रकट करे कि अमुक-अमुक जागीरदारों के कौन कौन से हक हकूक और अधिकार रहने उचित हैं।"

कर्नल साहब—"क्या आपकी इच्छा है कि जागीरदारों के स्वत्व छीन लिये जायँ ?"

महाराज—"नहीं नहीं, मेरा अभिप्राय यह है कि इस राज्य का चौथा हिस्सा तो जागीरदारों के हाथ मे है ही। ये लोग काश्तकारों को कष्ट देते हैं और राज्य के विरुद्ध भी आचरण करते हैं। शायद आपको मालूम नहीं है कि जब ब्रिटिश सरकार और इस राज्य के बीच सन्धि हुई थी, तदुपरान्त ही इन जागीरदारों और राज्य के बीच एक अहदनामा पोलिटीकल एजेंट के मार्फत हुआ था। उस के अनुसार इन जागीरदारों के स्वत्व निर्धारित किये गये थे, जिनको आज दिन तक वे लोग काम मे ला रहे हैं। उस समय जागीरदारों के ठिकानों की जो आय थी, उसका छठा हिस्सा उन्होंने 'कर' के रूप में राज्य को देना स्वीकार किया। उससे आपको प्रकट होगा कि इन सरदारों को कितना थोडा 'कर' राज्य को देना पड़ता है।

राज्य में जो नया सेटलमेंट हुआ है; उससे आपको पता चलेगा कि इन सौ वर्षों में ठिकानों की आय बहुत कुछ अधिक बढ़ गई है। इन बातों को सोचते हुए मेरी तो धारणा है कि जागीरदार जो 'कर' राज्य को देते हैं वह वर्तमान आय के अनुसार लिया जाना चाहिये।"

कर्नल साहब—"मेरी समझ में नहीं आता कि जब, एक अहदनामा राज्य और जागीरदारों के बीच हो चुका है, तो फिर उसमें कैसे परिवर्तन किया जा सकता है ?"

महाराज—इसलिये कि पहले के और आज के समय में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। जब राज्य और जागीरदारों के बीच अहदनामा हुआ था, तब राज्य कमज़ोर था, और जागीरदार विद्रोही थे। इस कारण शान्ति स्थापित करने के हेतु समयानुसार समझौता कर लिया गया। किन्तु उसमें कहीं ऐसी शर्त नहीं है कि वह दीर्घकाल तक चलता रहे और उसमें परिवर्तन किया ही जावे।"

कर्नल साहब—"मैं महाराज की राय से सहमत नहीं हो सकता, क्योंकि जो इकरार हो चुका है उसको पालन करना आपका कर्तव्य है। ब्रिटिश सरकार ऐसे इकरार तोड़ना कभी पसंद नहीं करती। यदि यही विचार सरकार का होता तो बंगाल का स्थाई बन्दोबस्त (Permanent Settlement) कभी का तोड़ दिया जाता।"

महाराज—"हाँ, अभी तक तोड़ा तो नहीं गया है, लेकिन कांग्रेस के हाथ में शासन आने पर अवश्य ऐसे इकरार तोड़ दिये जायँगे।"

कर्नल साहब—(हँसकर)—"यदि कांग्रेस के हाथ में राज्य सत्ता पूरी आ जायगी तो क्या रियासतें बच सकेंगी ?"

महाराज—"क्यों नहीं, जब तक हमारे हाथ में तलवार है, तब तक बराबर हमारे राज्य की रक्षा की जायगी।"

कर्नल साहब—(फिर हँसकर)—"देखिये ! ऊँट किस करवट बैठता है। हम हैं तब तक तो उनको कायम रक्खेंगे ही। इसके बाद देशी राज्यों का क्या होगा, वह तो भविष्य के गर्भ में है।"

महाराज—"देशी राज्य भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना से भी कई शताब्दी पहले से स्थापित हैं; और आगे चलकर भी तलवार के जोर पर ये अवश्य कायम रहेंगे। मुझे सन्देह है तो ब्रिटिश राज्य की ओर से, जो कि जान बूझ कर हमें 'संघशासन' में शरीक करना चाहता है। वह हमारे राज्यों को अलग ही, जैसे हैं वैसे ही, रक्खे तो अच्छा होगा।"

कर्नल साहब—"देशी राज्यों का 'संघ-शासन' से अलग रहना, उन्हीं के लिये अहितकर है। मैं नहीं समझता कि नरेशों ने कभी इस बात पर गहराई से विचार किया हो।"

महाराज—"खैर साहब, जाने दीजिये। अभी तो 'संघ-शासन' के मार्ग मे कई बाधाएँ हैं, संभव है कि मेरे विचार आप पूरी तरह समझ नहीं पाये हों; इसलिये मैं फिर उन्हें दुहराना चाहता हूँ। मेरा मतलब यह है कि राज्य की ओर से जागीरदारों के गाँवों और कस्बों में रक्षा के लिये पुलिस रक्खी जाती है और बीमारों के लिये अस्पताल, शिक्षा के लिए स्कूलों की स्थापना और

आवागमन के सुभीते के लिये पक्की सड़कें बनवाने आदि २ में अनेक खर्च भी राज्य के कोष से किये जाते हैं। अब आपही सोचिये कि कहाँ तो इन कामों में होने वाला खर्चा और कहाँ जागीरदारों का थोड़ा सा 'कर' देना। तात्पर्य यह है कि इन मदों का खर्चा सुचारु रूप से चलाने के लिये किसी प्रकार से स्थायी प्रबन्ध कर लेना अत्यावश्यक है।"

कर्नेल साहब—"तो क्या मैं जान सकता हूँ कि जागीरदारों के ठिकानो में अस्पताल आदि लोकोपकारी संस्थाएँ नहीं हैं?"

महाराज—"हाँ, इसी से मेरा कहना है कि आपको इसके लिये कुछ न कुछ करना चाहिये। यद्यपि दो-एक जागीरों में एक या दो अस्पताल और मदरसे स्थापित किये हुए हों भी पर, बहुत से ठिकानेदारो ने अभी इस तरफ हाथ नहीं बटाया है। मेरा उद्देश तो एक सिद्धान्त क़ायम करने का है। वह यह है कि कुल जागीरों और राज्य के जिलों की शासन प्रणाली में विभिन्नता न रहने पावे और जागीरदारों की प्रजा भी लोकोपकारी संस्थाओं से लाभ उठावें।"

कर्नेल साहब—"ओह! मैं अब जाकर आपके विचारो को समझा। मेरी दृष्टि में आपके विचार प्रशंसा के योग्य हैं; और अब मैं कमेटी का सभापति बनना प्रसन्नता के साथ स्वीकार करता हूँ।"

इसके उपरान्त जब राज्य के गजट में इस कमेटी के कायम होने और इस के कार्य्यक्षेत्र की विज्ञपति निकली; तब कुल

जागीरदारों में घबराट और सनसनी फैल गई; और वे लोग आपस में सलाह करने लगे कि 'याती इस कमेटी का बहिष्कार करना चाहिये या फिर मिल जुल कर सब प्रश्नो को हल करना चाहिये'।

प्राय सभी जागीरदारो मे आपसी वैमनस्य और ईर्ष्या के कारण मत भेद पाया जाता है। मतभेद क्यों न हो, जबकि ये लोग आपस मे कभी सलाह मशवरा ही नहीं करते और एक दूसरे को छोटा बडा समझते हैं। ये कभी मिलें तो भी दशहरे के दरबार में, सो वह भी राज्य के महलो मे ही, जहाँ पर बात-चीत करने का तनिक भी अवसर नहीं मिलता है। हाँ, एक दूसरे के दर्शन अवश्य हो जाते हैं। वैसे तो इनमें भी एक दो सरदार ऐसे अवश्य थे जिनके विचार और रहन सहन समय के विरुद्ध नहीं थे। बल्कि, एक जागीर में तो शासन इतनी खुबी से चलाया जाता था कि जो महाराज को भी खटकता था। उन जागीरदार महाशय और कर्नल साहब के बीच जो बात-चीत हुई वह इस प्रकार थी —

कर्नल साहब—"ठाकुर साहब ! आपको विदित ही होगा कि यह कमेटी किस उद्देश्य से कायम की गई है ?"

ठाकुर साहब—"हाँ साहब ! मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि कमेटी को कायम करने से राज्य का क्या प्रयोजन है ?"

कर्नल साहब—"महाराज के ये ही विचार हैं कि आप जागीरदार लोग जागीरों का शासन प्रवन्ध सुचारु रूप से चलाने के लिये 'कर' में वृद्धि करें। क्योंकि आप जानते हैं कि राज्य को स्कूल, अस्पताल, सडकें बनाना और काय रखना पड़ता है, जिसमें

राज्य को जो 'कर' मिलता है उससे काम नहीं चलता और कई अधिक खर्च करना पड़ता है।"

ठाकुर साहब—"साहब बहादुर! आप यह तो फ़रमाइये कि कितने जागीरदारों के गाँवों में राज्य की ओर से स्कूल, अस्पताल आदि कायम किये गये हैं, और पक्की सड़कें किन २ जागीरों में बनाई गई हैं?"

कर्नल साहब—"मेरे विचार से सब ही जगह ये विभाग अवश्य होंगे।"

ठाकुर साहब—"नहीं साहब यह बात नहीं है। किसी भी जागीर में राज्य की ओर से न तो कोई स्कूल है और न अस्पताल ही। अगर किसी में हो भी तो जागीरदार की ओर से ही होंगे, जैसे कि मेरी जागीर में मेरी ही ओर से हाईस्कूल व अस्पताल हैं और मेरी राजधानी से रेलवे स्टेशन तक पक्की सड़क भी बनी हुई है।"

कर्नल साहब (आश्चर्यान्वित होकर)—"तो क्या सचमुच ये सब राज्य की ओर से न होकर आपकी जागीर में अपनी ही ओरसे हैं?"

ठाकुर साहब—"जी हाँ! मेरा कर्त्तव्य है कि जिन गरीब काश्तकारों से मालगुजारी वसूल करूँ, उनको किसी रूप में थोड़ा बहुत वापिस लौटाऊँ। अलावा इसके मेरा धर्म है कि काश्तकार अपनी गाढी कमाई का पैसा हमें देता है, उसकी सन्तान की शिक्षा के लिये स्कूल खोलूँ अथवा जब वह बीमार हो तब अस्पताल द्वारा चिकित्सा करवाकर उसे सहायता पहुँचाऊँ।"

कर्नेल साहब—"लेकिन ठाकुर साहब, आपके जैसे विचार दूसरों के तो नहीं हैं।"

ठाकुर साहब—"अगर उनके विचार ऐसे नहीं हैं तो राज्य का कर्त्तव्य है कि उनके विचार बदलें। आप इस कमेटी के चेयरमेन हैं इसलिये मैं चाहता हूँ कि आपको संक्षिप्त रूप में अपनी जागीर के इतिहास से भी परिचित करा दूँ।"

कर्नेल साहब—"मैं भी ठीक यही बात कहने वाला था। अवश्यमेव आप मुझे संक्षेप मे अपनी जागीर का परिचय दीजिये।"

ठाकुर साहब—"मेरी जागीर की स्थापना मुग़ल साम्राज्य के समय में हुई थी। मेरे पुरुषाओं को यह जागीर राज्य की ओर से नहीं प्राप्त हुई, बल्कि उन्होंने ही अपनी तलवार के बल से मेरे संस्थान की स्थापना की थी। गत शताब्दी तक हम स्वतन्त्र थे और जब जौनपुर पर मरहठों का आक्रमण हुआ; उस समय हमने इस राज्य को यथेष्ट सैनिक सहायता पहुँचाई। फलतः उस समय इस राज्य के जो महाराज थे उन्होंने हमारा पूरा-पूरा सम्मान किया। तभी से हमारा यहाँ आना जाना बना रहा है। हमें फाँसी देने तक का अधिकार था और इस राज्य की ओर से हमारे काम में कोई हस्तक्षेप नहीं होता था। इसी कारण जब हम सब जागीरदारान और राज्य के दर्मियान पॉलिटिकल एजेन्ट के द्वारा इक़रारनामा हुआ, तब उचित आश्वासन दिलाये जाने पर हमने इस राज्य की आधीनता स्वीकार की थी। हमने यहाँ तक स्वीकार किया कि हत्या आदि के संगीन मुक़दमों का फ़ैसला राज्य के सर्वोच

न्याय विभाग (High Court) की मजूरी बिना जारी नहीं करेंगे।"

कर्नल साहब—"तो क्या उस इकरार की पाबन्दी अभी तक चली आ रही है ?"

ठाकुर साहब—"जी हाँ। इस इक़रार के कारण मुझे अपने खर्चे से न्याय विभाग रखना पड़ता है और उसके साथ साथ पुलिस भी। इन व्ययों के अतिरिक्त स्कूल, अस्पताल आदि को भी चलाने में खर्च करना ही पड़ता है।"

कर्नल साहब—"मैं नहीं समझ सका कि आप क्यों इतना व्यय करते हैं ? अच्छा तो यह होगा कि इन सबको राज्य की ओर से ही चलाया जाय।"

ठाकुर साहब—"मुझे तो बड़ी प्रसन्नता होगी, यदि राज्य यह प्रबन्ध अपने हाथ में ले लेगा। जब राज्य की ओर से अस्पताल स्कूल आदि कायम नहीं हुए थे, तभी मैंने आवश्यक समझकर इन्हें स्थापित किये थे।"

कर्नल साहब—"तो अब आप 'कर' बढाना स्वीकार कर लीजिये। फिर अवश्य इनका प्रबन्ध राज्य की ओर से किया जाता रहेगा।"

ठाकुर साहब—"मैं 'कर' बढाने से सहमत नहीं हूँ।"

कर्नल साहब—"क्यों ? क्या आप राज्य के इस विचार में सहयोग न देंगे ?"

ठाकुर साहब—"जी नहीं। राज्य से विमुख होने की कोई बात

नहीं है। हम जागीरदार पहले से ही राज्य को भिन्न-भिन्न रूप में राज्य प्रबन्ध चलाने के लिये बहुत कुछ देते चले आये हैं। इसलिये अब पहले से अधिक 'कर' बढ़ाना मुझे स्वीकार नहीं है।"

कर्नल साहब—"आप लोग किस किस रूप में सहायता देते हैं, यह मेरी समझ मे नहीं आता। ख्याल से तो केवल एक ही रूप नजर आता है और वह है 'कर'। इसके अलावा अगर कोई और हो तो आप बताइये।"

ठाकुर साहब—"आप विश्वास रक्खें, मैं अपने कुल विचार आपके सामने प्रकट करूँगा; आप धैर्य पूर्वक सुनें। यह तो आपको विदित ही होगा कि डाण यानी आयात-निर्यात की चीजों पर राज्य की ओर से एक प्रकार का टैक्स वसूल किया जाता है। इसके अलावा जागीर की खदानों से, चाहे वे सफेद मिट्टी की हों या चाँदी-सोने की, जो आय होती है, वह भी कम नहीं होती है। इस प्रकार कस्टम-ड्यूटी (डाण) लगाना और खदानों की आय वसूल करना तथा जंगल और आबकारी छीन लेना, क्या इनसे राज्य की आय में कोई वृद्धि नहीं होती? पूर्व इन सब मदो की आय हम ही लोग लेते थे किन्तु थोड़े ही वर्ष हुए कि राज्य ने हमारे इन परम्परागत अधिकारो का अपहरण किया। आरम्भ में जब हमारे उपर्युक्त अधिकारों पर कुठाराघात किया गया तो हम यह समझकर चुप रहे कि राज्य प्रबन्ध में प्रचुर व्यय होता है और भविष्य में हमें तथा हमारी प्रजा को आराम पहुँचाने की व्यवस्थाएँ की गई हैं, किन्तु अब तक कुछ नहीं हुआ। इस पर भी आप कर और बढ़ाये

ठाकुर साहब—"जी नहीं! आप यह तो सोचे कि डाण, जंगल, ानें और आबकारी से राज्य को कितना फायदा होता है ? मेरी ागीर में जो कुछ खदानें हैं, उनसे सिर्फ रोयल्टी (राज्य डाण) ; रूप में ही, पिछले साल राज्य को पचास हजार से अधिक रुपया मेला है। राज्य को करीब तीस हजार रुपया सालाना डाण-महसूल ा मेरी जागीर की प्रजा ही देती है। आबकारी और जंगल से नी लगभग इसकी आधी आय हो जाती है। अगर राज्य इस आय ा दसवाँ हिस्सा भी, मेरी प्रजा की भलाई में लगावे, तो मैं ानता हूँ कि राज्य जागीरदारों की प्रजा को भी अपनी ही प्रजा 'मझता है।"

कर्नेल साहब—"जागीर की प्रजा तो राज्य की प्रजा है ही।"

ठाकुर साहब—"होना और बात है, और उसे वैसा मानना गैर बात, दोनों में काफी अन्तर है। 'हाथी के दाँत दिखाने के और ाा खाने के और ही होते हैं'। साहब! राज्य की ओर से कितनी ागीरों के क़स्बों में अस्पताल वग़ैरा क़ायम हैं? केवल हम दो-तीन ागीरदारों को छोड़कर किसी भी जागीर के इलाके में राज्य की रफ़ से इनका कोई प्रबन्ध नहीं है। आज प्रजा के हाथ में शासन ी बागडोर होती तो अवश्य पूछा जाता कि राज्य इतने अधिक कर' लगाकर किस काम में व्यय करता है?"

कर्नेल साहब—"मालूम होता है कि आपके कांग्रेसी विचार हैं।"

ठाकुर साहब—"बिल्कुल नहीं; किन्तु मैं सोचता हूँ कि राज्य की र से यदि ऐसी ही नीति रही; तो भविष्य में कांग्रेसी विचार

जाने का राग अलाप रहे हैं। तो क्या हम जागीरदार लोग ब्रिटि भारत के जागीरदारों से भी गिरे हुए हैं ? सकट में तो हमने ब नहाकर राज्य की सहायता की और जब आज शान्ति स्थापित हैं, तो हमें राज्य कुचल देना चाहता है।"

कर्नल साहब—"मुझे इन बातों का तनिक भी बोध नहीं हुआ था। आपने जो बहस की है उसमें मुझे कुछ सार मालूम पड़ता है किन्तु कस्टम्स तो राज्य की ही होना चाहिये क्योंकि यह तो सार्व भौम-सत्ता (Sovereignty) का चिह्न है।"

ठाकुर साहब—हम भी हमारी भाषा में यही कहते हैं कि— "आँण, डाँण और रवाँण राज्य का है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि हमको हर प्रकार से राज्य कुचलता ही चला जाय।"

कर्नल साहब—"नहीं! कदापि नहीं। कुचलने की तो कोई बात ही नहीं है। मैं समझता हूँ कि आप जागीरदारों के स्वत्व ब्रिटिश भारत के जमींदारों से कम न हों। अभी जो स्वत्व हैं, वे अधिक हैं।"

ठाकुर साहब—"किस रूप में ? तनिक समझाइये तो सही।"

कर्नल साहब—"आपको न्याय-सम्बन्धी अधिकार भी तो हैं।

ठाकुर साहब—"जी हाँ, किंतु इसके अलावा और कौन हमारे स्वत्व अधिक हैं ? क्या ब्रिटिश भारत के जमींदारों का अपनी जमींदारी में उसकी आय लेने का स्वत्व नहीं है ? क्या खदानों और जगलों पर उनका अधिकार नहीं रहता है ?"

कर्नल साहब—"तो क्या आपको इसका कोई मुआवजा नहीं मिलता है ?"

ठाकुर साहैव—"जी नहीं ! आप यह तो सोचें कि डाण, जंगल, ानें और आबकारी से राज्य को कितना फायदा होता है ? मेरी ागीर में जो कुछ खदानें हैं, उनसे सिर्फ रोयल्टी (राज्य डाण) रूप में ही, पिछले साल राज्य को पचास हजार से अधिक रुपया ला है। राज्य को करीब तीस हजार रुपया सालाना डाण-महसूल ा मेरी जागीर की प्रजा ही देती है। आबकारी और जंगल से ो लगभग इसकी आधी आय हो जाती है। अगर राज्य इस आय ा दसवाँ हिस्सा भी, मेरी प्रजा की भलाई मे लगावे, तो मैं ानता हूँ कि राज्य जागीरदारों की प्रजा को भी अपनी ही प्रजा मझता है।"

कर्नल साहब—"जागीर की प्रजा तो राज्य की प्रजा है ही।"

ठाकुर साहब—"होना और बात है, और उसे वैसा मानना ौर बात, दोनो मे काफी अन्तर है। 'हाथी के दाँत दिखाने के और था खाने के और ही होते हैं'। साहब ! राज्य की ओर से कितनी ागीरो के कस्बों मे अस्पताल वगैरा कायम हैं? केवल हम दो-तीन ागीरदारों को छोड़कर किसी भी जागीर के इलाके मे राज्य की रफ से इनका कोई प्रबन्ध नहीं है। आज प्रजा के हाथ में शासन ी बागडोर होती तो अवश्य पूछा जाता कि राज्य इतने अधिक कर' लगाकर किस काम मे व्यय करता है ?"

कर्नल साहब—"मालूम होता है कि आपके कांग्रेसी विचार हैं।"

ठाकुर साहब—"बिल्कुल नहीं, किन्तु मैं सोचता हूँ कि राज्य की ओर से यदि ऐसी ही नीति रही, तो भविष्य में कांग्रेसी विचार

फैलने की संभावना है। जब राज्य हर प्रकार से अपनी आय बढ़ाने का ही प्रयत्न करता है, तो हम भी पूछने के अधिकारी क्यों नहीं हैं, साहब ?"

कर्नल साहब—(हँसकर)—"आप लोग पूछिये; परन्तु जब हम जवाब ही न देंगे तब ?"

ठाकुर साहब—"यह भी समय दूर नहीं है जब कि आपको उत्तर देना ही होगा। आप लोगों ने भी अपनी नीति बदल दी है और आप लोग भी भारत को अन्य देशों की तरह स्वतंत्र देखना चाहते हैं।"

कर्नल साहब—"चाहने का तो कोई सवाल ही नहीं है; जब कि सारे ही भारत के विरुद्ध बलपूर्वक शासन किया जाता है; तो सहने की भी आखिर कोई सीमा होती है।"

ठाकुर साहब—"इसीसे तो मेरा भी कहना है कि आखिर 'कर' लगाने की भी कोई सीमा होती है। अब तक तो देशी राज्य जागीरदारों की सहायता (Fedal-system) पर निर्भर थे, किन्तु अब उस प्रणाली को तोड़ा जा रहा है, तो ठीक है फिर शासन प्रबन्ध भी वर्त्तमान शैली से नहीं चल सकेगा। प्रजा को उसमें हाथ बटाना ही पड़ेगा; और जिस दिन यह होगा, उस दिन हमको भी निःसंकोच उस मार्ग का सहर्ष अवलंबन करना पड़ेगा। लीजिये, मैं तैयार हूँ कि मैं जो 'कर' देता हूँ उसमें वृद्धि की जाय; किन्तु उसके साथ एक प्रतिबंध है।"

कर्नल साहब—(हँसकर)—"वह क्या ?"

ठाकुर साहब—"वह यह कि, महाराज यह स्वीकार करलें, कि जो 'कर' दिया जाता है, उसका आधा मेरी जागीर की प्रजा के लिये खर्च किया जायगा।"

कर्नल साहब—"भला यह कैसे हो सकता है ? यह तो महाराज की इच्छा पर निर्भर है। मैं कैसे यह मंजूर कर सकता हूँ, और मेरे विचार से महाराज भी इसे शायद ही मंजूर करें।"

ठाकुर साहब—"सो क्यों ? जब आप एक साधारण सी शर्त भी मंजूर नहीं कर सकते तो हमें भी कर बढ़ाने में एतराज है। मैं तो और भी अधिक कहता, किन्तु आपने जब एक साधारण शर्त को ही नहीं माना; तब तो इससे अधिक राज्य से आशा करना व्यर्थ सा है।"

कर्नल साहब—"शायद, आप का मतलब यह है कि जिस किसी इलाके में राज्य को डाण आदि से जो आमदनी होती है, उसका चौथा हिस्सा भी उसी इलाके की प्रजा के हित के कामों में लगाया जाना चाहिये।"

ठाकुर साहब—"यहाँ पर तो और भी कई बातों की आवश्यकता है। आखिर, महाराज इतना धन इकट्ठा करके क्या करेंगे ! आज अन्य प्रान्तों में तो उधार लेकर प्रजा-हित के नये नये काम किये जा रहे हैं, किन्तु यहाँ पर तो 'कर' ही की बढ़ती होती चली जा रही है, और प्रजा-हितैषी कार्यों की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया जाता।"

कर्नल साहब—यह प्रश्न तो मेरी कमेटी के क्षेत्र से बाहर

फैलने की संभावना है। जब राज्य हर प्रकार से अपनी आय बढ़ाने का ही प्रयत्न करता है, तो हम भी पूछने के अधिकारी क्यों नहीं हैं, साहब ?"

कर्नल साहब—(हँसकर)—"आप लोग पूछिये; परन्तु जब हम जवाब ही न देंगे तब ?"

ठाकुर साहब—"वह भी समय दूर नहीं है जब कि आपको उत्तर देना ही होगा। आप लोगों ने भी अपनी नीति बदल दी है और आप लोग भी भारत को अन्य देशों की तरह स्वतंत्र देखना चाहते हैं।"

कर्नल साहब—"चाहने का तो कोई सवाल ही नहीं है; जब कि सारे ही भारत के विरुद्ध बलपूर्वक शासन किया जाता है; तो सहने की भी आखिर कोई सीमा होती है।"

ठाकुर साहब—"इसीसे तो मेरा भी कहना है कि आखिर 'कर' लगाने की भी कोई सीमा होती है। अब तक तो देशी राज्य जागीरदारों की सहायता (Fedal-system) पर निर्भर थे, किन्तु अब उस प्रणाली को तोड़ा जा रहा है, तो ठीक है फिर शासन प्रबन्ध भी वर्त्तमान शैली से नहीं चल सकेगा। प्रजा को उसमें हाथ बटाना ही पड़ेगा; और जिस दिन यह होगा, उस दिन हमको भी निःसंकोच उस मार्ग का सहर्ष अवलंबन करना पड़ेगा। लीजिये मैं तैयार हूँ कि मैं जो 'कर' देता हूँ उसमें वृद्धि की जाय; किन्तु उसके साथ एक प्रतिबंध है।"

कर्नल साहब—(हँसकर)—"वह क्या ?"

ठाकुर साहब—"वह यह कि, महाराज यह स्वीकार करलें, कि जो 'कर' दिया जाता है, उसका आधा मेरी जागीर की प्रजा के लिये खर्च किया जायगा।"

कर्नल साहब—"भला यह कैसे हो सकता है ? यह तो महाराज की इच्छा पर निर्भर है। मैं कैसे यह मजूर कर सकता हूँ, और मेरे विचार से महाराज भी इसे शायद ही मजूर करें।"

ठाकुर साहब—"सो क्यों ? जब आप एक साधारण सी शर्त भी मजूर नहीं कर सकते तो हमे भी कर बढाने में एतराज है। मैं तो और भी अधिक कहता, किन्तु आपने जब एक साधारण शर्त को ही नहीं माना, तब तो इससे अधिक राज्य से आशा करना व्यर्थ सा है।"

कर्नल साहब—"शायद, आप का मतलब यह है कि जिस किसी इलाके से राज्य को डाण आदि से जो आमदनी होती है, उसका चौथा हिस्सा भी उसी इलाके की प्रजा के हित के कामों में लगाया जाना चाहिये।"

ठाकुर साहब—"यहाँ पर तो और भी कई बातों की आवश्यकता है। आखिर, महाराज इतना धन इकट्ठा करके क्या करेंगे। आज अन्य प्रान्तों में तो उधार लेकर प्रजा-हित के नये नये काम किये जा रहे हैं, किन्तु यहाँ पर तो 'कर' ही की बढती होती चली जा रही है, और प्रजा हितैषी कार्यों की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया जाता।"

कर्नल साहब—यह प्रश्न तो मेरी कमेटी के क्षेत्र से बाहर

फैलने की सभावना है। जब राज्य हर प्रकार से अपनी आय बढ़ाने का ही प्रयत्न करता है, तो हम भी पूछने के अधिकारी क्यों नहीं हैं साहब ?"

कर्नल साहब—(हँसकर)—"आप लोग पूछिये, परन्तु जब हम जवाब ही न देंगे तब ?"

ठाकुर साहब—"वह भी समय दूर नहीं है जब कि आपको उत्तर देना ही होगा। आप लोगों ने भी अपनी नीति बदल दी है और आप लोग भी भारत को अन्य देशों की तरह स्वतत्र देखना चाहते हैं।"

कर्नल साहब—"चाहने का तो कोई सवाल ही नहीं है, जब कि सारे ही भारत के विरुद्ध बलपूर्वक शासन किया जाता है, तो सहने की भी आखिर कोई सीमा होती है।"

ठाकुर साहब—"इसीसे तो मेरा भी कहना है कि आखिर 'कर' लगाने की भी कोई सीमा होती है। अब तक तो देशी राज्य जागीरदारों की सहायता (Fedr -system) पर निर्भर थे, किन्तु अब उस प्रणाली को तोडा जा रहा है, तो ठीक है फिर शासन प्रबन्ध भी वर्त्तमान शैली से नहीं चल सकेगा। प्रजा को उसमें हाथ बटाना ही पडेगा, और जिस दिन यह होगा, उस दिन हमको भी नि'सकोच उस मार्ग का सहर्ष अवलबन करना पड़ेगा। लीजिये मैं तैयार हूँ कि मैं जो 'कर' देता हूँ उसमें वृद्धि की जाय, किन्तु उसके साथ एक प्रतिबध है।"

कर्नल साहब—(हँसकर)—"वह क्या ?"

साहब के समक्ष उनको कुछ कहने का साहस न हुआ हो। वे डर गये हों कि कहीं हम अपने विचार ठीक तरह उन पर प्रकट न कर पावें, इसलिये कतिपय व्यक्तियों ने तो दरख्वास्तें ही टाइप करा ली थीं और साहब के आने पर वे उनके हाथ में पकड़ा देते थे।

कर्नल साहब को निश्चय हो गया था कि ये सब लोग 'कर' ढ़ाने के विरोधी हैं, और अपने निजी विचार से वे भी चाहते थे : जागीरदारों के स्वत्व ब्रिटिश भारत के जमींदारों के समान र दिये जावें। साहब ने महाराज से एकान्त में मिलकर जागीर-ारों के विचार प्रकट किये। नवयुवक महाराज में इतनी क्षमता हीं थी, वे उन विचारों को सुनकर बे तरह बिगड़े और साहब से कहने लगे—"देख लिया आपने ! इन लोगों के विचार कांग्रेसी हैं, भी तो मैं इन लोगों के पक्ष में नहीं हूँ। ये लोग अवश्य राज्य-विद्रोहियों के साथ हो जावेंगे। मैं चाहता हूँ कि आप इनके स्वत्वों के तथा 'कर' बढ़ाये जाने के विषय में अपनी रिपोर्ट तैयार करके पेश कर दें। आपका मत है कि इनके ब्रिटिश भारत के जमींदारों के समान ही स्वत्व रक्खे जायँ; किन्तु इससे मैं सहमत नहीं हूँ। वास्तव में इनको कोई स्वत्व ही नहीं मिलने चाहिये। केवल माल-

का है, अस्तु इस पर विवाद करना व्यर्थ होगा। आप तो यह कहिये कि 'कर' बढ़ाने में आपको उज्र तो नहीं है?"

ठाकुर साहब—"मुझे जितने उज्र थे, उन सबको तो मैंने आपके सामने रखने की यथा-शक्ति चेष्टा की है। अब आप साफ़ २ पूछते हैं, तो मुझे कहना पड़ेगा कि मुझे इस बात का आश्वासन मिलना चाहिए कि जो हाईस्कूल, पाठशालाएँ तथा अस्पताल मेरी ओर से स्थापित किये गये हैं, उनको इसी प्रकार रखे जायेंगे। अर्थात् जब आप 'कर' बढ़ाते हैं तो मुझे भी अपनी प्रजा की ओर से सोचना पड़ेगा; अतः भविष्य में ये सब संस्थाएँ राज्य कोष से ही चलाई जानी चाहिये।"

कर्नल साहब—"आखिर आप उन पर क्या खर्च करते हैं?"

ठाकुर साहब—"मैं अपनी बची-खुची आय जो कि मुझे माल-गुज़ारी के रूप में मिलती है, उसका चतुर्थांश, जो पचीस हज़ार रुपये हैं, इन धार्मिक संस्थाओं में खर्च करता हूँ।"

कर्नल साहब—"इसके प्रति मैं महाराज से परामर्श करके अपना निर्णय दे सकता हूँ?"

ठाकुर साहब—"आप अवश्य पूछ-ताछ लें।"

× × × ×

इसी तरह कर्नल साहब ने हर एक जागीरदार के विचार अलग अलग इतिहास को समझने की कोशिश की तो अधिक जागीरदार ऐसे पाये गये जो अपना भला-बुरा न समझकर
स [illegible]

साहब के समक्ष उनको कुछ कहने का साहस न हुआ हो। वे डर गये हों कि कहीं हम अपने विचार ठीक तरह उन पर प्रकट न कर पावें, इसलिये कतिपय व्यक्तियों ने तो दरख्वास्तें ही टाइप करा ली थीं और साहब के आने पर वे उनके हाथ में पकड़ा देते थे।

कर्नल साहब को निश्चय हो गया था कि ये सब लोग 'कर' बढ़ाने के विरोधी हैं, और अपने निजी विचार से वे भी चाहते थे कि जागीरदारों के स्वत्व ब्रिटिश भारत के ज़मीदारों के समान कर दिये जावें। साहब ने महाराज से एकान्त में मिलकर जागीरदारों के विचार प्रकट किये। नवयुवक महाराज में इतनी क्षमता नहीं थी, वे उन विचारों को सुनकर बे तरह बिगड़े और साहब से कहने लगे—"देख लिया आपने! इन लोगों के विचार कांग्रेसी हैं, तभी तो मैं इन लोगों के पक्ष में नहीं हूँ। ये लोग अवश्य राज्य-विद्रोहियों के साथ हो जावेंगे। मैं चाहता हूँ कि आप इनके स्वत्वों के तथा 'कर' बढ़ाये जाने के विषय में अपनी रिपोर्ट तैयार करके पेश कर दें। आपका मत है कि इनके ब्रिटिश भारत के ज़मींदारों के समान ही स्वत्व रक्खे जायँ; किन्तु इससे मैं सहमत नहीं हूँ। वास्तव में इनको कोई स्वत्व ही नहीं मिलने चाहिये। केवल मालगुज़ारी वसूल करने का हक इनका रहे; नहीं तो ये लोग किसी दिन राज्य से मुकाबला करने को तैयार हो जायेंगे।"

महाराज एक नीति-निपुण और चतुर नरेश थे। उनके सामने अपनी ही राय क़ायम रखना कर्नल साहब जैसे सीधे-सादे आदमी का काम न था। महाराज जहाँ ज़ोर बताना ठीक समझते, वहाँ

का है, अस्तु इस पर विवाद करना व्यर्थ होगा। आप तो र
कहिये कि 'कर' बढ़ाने में आपको उज्र तो नहीं है ?"

ठाकुर साहब—"मुझे जितने उज्र थे, उन सबको तो मैंने आप
सामने रखने की यथा-शक्ति चेष्टा की है। अब आप साफ २ पूछ
हैं, तो मुझे कहना पड़ेगा कि मुझे इस बात का आश्वासन मिल
चाहिए कि जो हाईस्कूल, पाठशालाएँ तथा अस्पताल मेरी ओ
से स्थापित किये गये हैं, उनको इसी प्रकार रखे जायेंगे। क्यों
जब आप 'कर' बढ़ाते हैं तो मुझे भी अपनी प्रजा की ओर
सोचना पड़ेगा; अतः भविष्य में ये सब संस्थाएँ राज्य कोप से।
चलाई जानी चाहिये।"

कर्नल साहब—"आखिर आप इन पर क्या खर्च करते हैं ?"

ठाकुर साहब—"मैं अपनी बची-खुची आय जो कि मुझे मा
गुजारी के रूप मे मिलती है, उसका चतुर्थांश, जो पचीस हज़
रुपये हैं, इन धार्मिक संस्थाओं में खर्च करता हूँ।"

कर्नल साहब—"इसके प्रति मैं महाराज से परामर्श कर
अपना निर्णय दे सकता हूँ ?"

ठाकुर साहब—"आप अवश्य पूछ-ताछ लें।"

× × . × ×

इसी तरह कर्नल साहब ने हर एक जागीरदार के विचार
अलग अलग इतिहास को समझने की कोशिश की तो अधि
जागीरदार ऐसे पाये गये जो अपना भला-बुरा न समझकर
साहब बहादुर कहते उसी की हाँ में हाँ कर लेते थे। संभव है

साहब के समक्ष उनको कुछ कहने का साहस न हुआ हो। वे डर गये हों कि कहीं हम अपने विचार ठीक तरह उन पर प्रकट न कर पावें, इसलिये कतिपय व्यक्तियों ने तो दरख्वास्तें ही टाइप करा ली थीं और साहब के आने पर वे उनके हाथ में पकड़ा देते थे।

कर्नल साहब को निश्चय हो गया था कि ये सब लोग 'कर' बढ़ाने के विरोधी हैं, और अपने निजी विचार से वे भी चाहते थे कि जागीरदारों के स्वत्व ब्रिटिश भारत के जमींदारों के समान कर दिये जावें। साहब ने महाराज से एकान्त में मिलकर जागीरदारों के विचार प्रकट किये। नवयुवक महाराज में इतनी क्षमता नहीं थी, वे उन विचारों को सुनकर बे तरह बिगड़े और साहब से कहने लगे—"देख लिया आपने! इन लोगों के विचार कांग्रेसी हैं, तभी तो मैं इन लोगों के पक्ष में नहीं हूँ। ये लोग अवश्य राज्य-विद्रोहियों के साथ हो जावेंगे। मैं चाहता हूँ कि आप इनके स्वत्वों के तथा 'कर' बढ़ाये जाने के विषय में अपनी रिपोर्ट तैयार करके पेश कर दें। आपका मत है कि इनके ब्रिटिश भारत के जमींदारों के समान ही स्वत्व रक्खे जायँ; किन्तु इससे मैं सहमत नहीं हूँ। वास्तव में इनको कोई स्वत्व ही नहीं मिलने चाहिये। केवल मालगुज़ारी वसूल करने का हक इनका रहे; नहीं तो ये लोग किसी दिन राज्य से मुकाबला करने को तैयार हो जायेंगे।"

महाराज एक नीति-निपुण और चतुर नरेश थे। उनके सामने अपनी ही राय क़ायम रखना कर्नल साहब जैसे सीधे-सादे आदमी का काम न था। महाराज जहाँ ज़ोर बताना ठीक समझते, वहाँ

पूरे जोर के साथ अपने विचार प्रकट करते और जहाँ चापलूसी से काम लेना होता वहाँ बिल्कुल नरम बनकर अपना काम निकालते थे। महाराज तो साहब को यहाँ तक कह चुके थे कि जागीरदार कांग्रेस से मिलकर आन्दोलन खड़ा कर रहे हैं; और जिसका सबूत भी वे इकट्ठा कर चुके थे, किन्तु वह कहाँ तक सही था; इसका पता तो महाराज के सी० आई० डी० को ही हो सकता था।

अन्त में जब साहब के जाने में एक सप्ताह ही रह गया तब उन्होंने अपनी कमेटी की रिपोर्ट पेश की और महाराज ने उसे शीघ्रता पूर्वक स्वीकार कर ली, जो जागीरदारों के लिये घातक थी।

आठवाँ परिच्छेद

राज्य-शासन में हेरफेर

ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया त्यों-त्यो महाराज का अनुभव भी बढ़ता गया और उनकी अभिरुचि नये नये विचारणीय विषयों का समाधान करने में विशेषतः होती गई। अस्तु उन्हें अपने राज्य में और भी कई सुधार करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। किन्तु कर्नल साहब से ये बड़े परेशान थे क्योंकि वे संकीर्ण विचारो के न थे अतः ज्योंहि हेर-फेर की बात होती कि झट से वे अपनी राय देने लग जाते, इसी से महाराज हिचक जाते थे। किन्तु 'दिवस जात लागत नहीं बारा' अस्तुः कर्नल साहब अपने देश को चले गए और महाराज को स्वच्छंदता का अवसर मिल गया।

इधर कर्नल साहब का जाना हुआ और उधर महाराज ने राज्य के शासन में हेर-फेर करना शुरू कर दिया। सर्व प्रथम तो ऑफिसरों के वेतन में कमी होने लगी। रीजेन्सी काल मे जो वेतन-क्रम कायम किया गया था वह महाराज की दृष्टि में अत्याधिक था। ऑफिसरो को उतना वेतन मिलना इनकी दृष्टि मे राज्य के पैसो को बरबाद करना था। इसके अतिरिक्त महाराज का यह भी कहना था कि भारतीय अफसर का वेतन देश की आय के हिसाब से होना

चाहिये, न कि अंग्रेज़ अफ़सरों के बराबर। जहाँ कहीं महाराज की इस नीति पर आक्षेप होता, वहाँ वे झट से जापान का उदाहरण देकर उसका निवारण कर देते थे। उनका कहना था कि—"जब जापान देश इतना कम वेतन देता है, तब भारत में, जो उससे कई गुना अधिक निर्धन है, इतना वेतन दिया जाना कहाँ तक उचित हो सकता है ?" किन्तु महाराज को यह याद दिलाने वाला ही कौन था ? और अगर होता भी तो किसकी हिम्मत थी जो कहता कि—"जापान है स्वतंत्र देश और भारत है पराधीन। यहाँ तो आँख मींचकर नक़ल की जाती है, किन्तु दरअसल नक़ल में भी अक़ल की ज़रूरत होती है। जापान की नक़ल हमें भारतीय परिस्थिति को देख कर ही करनी चाहिये; वरना इस नक़ल से कोई प्रयोजन सिद्ध न हो सकेगा।"

महाराज को यह न सूझी कि ऊँची श्रेणी के इने गिने कुछ ही अफ़सरों को वेतन अधिक मिलता है। मान लिया जाय कि अगर दस पाँच को ठीक वेतन मिला भी तो इसका यह मतलब नहीं कि सभी का वेतन यथेष्ट था, क्योंकि उनमे लगभग नब्बे सैकड़ा ऐसे व्यक्ति थे, जिनको १००) मासिक से अधिक वेतन नहीं मिलता था। उसमें भी फिर यह तो था ही नहीं कि उनको कुटुम्ब का पालन-पोषण न करना पड़ता हो। पहले तो महाराज को किसी भी सिद्धान्त पर वेतन न्यून करना ही न था। यदि ऐसा करना ही था तो जिनका वेतन ५००) से अधिक था, उसमे कमी की जाती और १००) से कम वालों के वेतन में वृद्धि कर दी जाती। किन्तु वहाँ तो प्रश्न था पैसे जोड़ने का। नौकर चाहे ईमानदार

हो या बेईमान वहाँ पर तो—'सब धान बाईस पसेरी' की कहावत चरितार्थ होती थी। प्रत्येक व्यक्ति के लिए चाहे उसे अधिक वेतन मिलता हो या न्यून, उसमें कमी करना ही अभिष्ट था। इसके सिवाय घूँस की शिकायत होने पर, अधिकारी निकाला नहीं जाता था, प्रत्युत उससे पूरा आर्थिक-दंड प्राप्त कर पुनः उसे उसी जगह पर ही स्थिर रक्खा जाता था। जुर्माने की यह रकम राज्य के कोष में तो जमा नहीं की जाती थी किन्तु महाराज के जेब खर्च में रक्खी जाती थी, जिसको निजी-खजाना या 'सीगा हथ-खर्च' कहा जाता था।

फिर स्वर्गीय महाराज का समय तो था ही नहीं, कि महाराज अपने आपको शासन से पृथक् नहीं समझते थे और जितनी आवश्यकता होती उतना ही खर्च लिया जाता था तथा जो बचत रहती, उसे राज्य के कोष में जमा करा, उसका पाई-पाई का हिसाब राज्य के हिसाबी महक्में को दे देते थे।

पब्लिक-वर्क्स का सीगा हर राज्य में खर्चीला होता ही है। ठीक ठीक निगरानी न होने पर इसकी असल रकम में से पचास फी सैंकड़ा रकम ही खर्च होती है, बाकी ठेकेदार और सब ओवरसियर से लगाकर इञ्जीनियर तक, आपस में बाँट खाते हैं; जिसका पता जाँच-पड़ताल से भी लगना कठिन हो जाता है। रीजेन्सी के समय से सड़कों की दुरुस्ती और नये रास्ते बनाने के लिये प्रचुर मात्रा की रकम प्रति वर्ष बजट में स्वीकार की जाती थी। किन्तु महाराज को इस प्रकार व्यय करना रुचिकर न हुआ। इसीलिये इस

निभाग में बहुत सी रक़म बचत कर अफ़सरों की कमी की गई। वह भी इतनी की गई कि पैट्रोल-टैक्स जो कि गवर्नमेंट से मिलता था, वह और स्टेट में किराये पर लॉरियाँ चलाई जाती थीं, उनका टैक्स भी बचने लगा। जब रज़िडेन्ट साहब या एजेन्ट साहब का आगमन होता तो उस अवसर पर सड़कों पर मिट्टी अवश्य डलवा दी जाती थी, जो दस पन्द्रह दिन से अधिक नहीं टिकती थी। इसमें प्रजा को आराम मिलने का अभिप्राय तो था नहीं, केवल साहब को बाहरी टीम-टाम बतला देने ही का था। इसके अतिरिक्त उसकी मेम साहिबा के कोमल हृदय पर सड़कों के गड्ढों के कारण मोटर कार के दचकों से धक्का न लग पावे, तथा सड़कों पर मिट्टी बिछवा कर मशक़ द्वारा भिश्ती से पानी छिड़कवा देना भी राज्य की शोभा बढ़ाने वाला कार्य माना जाता था।

धर्म-भिरुता के कारण स्वर्गीय महाराज को तो आधुनिक शिक्षा से घृणा थी; किन्तु नये महाराज का इस शिक्षा-प्रणाली के विरुद्ध होने का कारण दूसरा ही था। इन्हें भय था कि राज्य में आधुनिक शिक्षा के प्रभाव से अवश्य ही प्रजा अपने अधिकार पाने की माँग करेगी। कौंसिल के शासन-काल में शिक्षा-विभाग स्थापित हुआ था और नाम मात्र के लिये राजधानी में एफ० ए० तक की शिक्षा का प्रबन्ध किया गया था। इसके अतिरिक्त राज्य भर में दो हाई-स्कूल और कुछ प्राइमरी-पाठशालाएँ स्थापित की गई थीं; परन्तु राज्य की जन-संख्या की दृष्टि से शिक्षण-संस्थाएँ अपर्याप्त थीं। कौंसिल का ध्यान प्रजाहित की ओर तो था ही नहीं,

केवल जनता को दिखलाने मात्र के उद्देश्य से ही इन स्कूलों की स्थापना की गई थी। अब देखिये! महाराज को शिक्षणालयों से भी भय मालूम होने लगा। उनका विचार था कि किसी बहाने से इन में भी कमी होना चाहिये, ताकि प्रजा को वर्तमान पाश्चात्य-शिक्षा द्वारा पश्चिमी हवा न लगने पावे। इसी उद्देश्य से महाराज की ओर से यह आज्ञा राजकीय-पत्र (गजट) द्वारा प्रचारित की गई कि—"पाठशालाओं में विद्यार्थी अति न्यून संख्या में हैं, जिसका मुख्य कारण यह हो सकता है कि हमारी प्रजा वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति को नहीं चाहती और यथार्थ में देखा जाय तो आधुनिक-शिक्षा से बेकारी ही लगातार बढ़ती जा रही है। कृषिकारों के लड़के भी स्वर-व्यंजन का बोध होते ही खेती से मुँह मोड़ लेते हैं और उन्हें नौकरी करने की धुन सवार हो जाती है। ऐसी अवस्था में मन्दिरों और मसजिदों के पुजारी एवं काजियों को सूचित किया जाता है कि वे लड़कों को शिक्षा अपने यहाँ ही दिया करें, और साधारण फ़ीस प्राप्त किया करें। राज्य के लिये अब शिक्षा-सम्बन्धी-कार्यों में हस्ताक्षेप करना अनावश्यक समझा गया है।"

इससे प्रकट हो जाता है कि स्वर्गीय महाराज और इन महाराज के विचारों में क्या अन्तर था। इस आज्ञा के फल स्वरूप अग्रिम वर्ष से राज्य में लगभग पचास हज़ार रुपये वार्षिक की बचत होने लगी। फिर भी राजधानी में एफ० ए० तक कॉलेज पूर्ववत ही रक्खा गया, किन्तु वह भी किसी विशेष प्रयोजन से ही।

इसी प्रकार स्वास्थ्य-विभाग भी कौंसिल के ही शासन काल

नवाँ परिच्छेद

प्रजा-शासन

इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि संसार परिवर्तनशील है। जहाँ तक इतिहास से विदित होता है, वहाँ तक यही पाया जाता है कि भारतवर्ष में कई एक प्रकार की शासन-प्रणालिएँ प्रचलित थीं। कभी प्रजा-तन्त्र ने जोर पकड़ा तो कभी अवसर पाकर शासन-सत्ता पूँजी-वादियों ने अपने हाथ में ले ली, पर अधिकांश स्थानों में एक-तन्त्रीय शासन-प्रणाली थी और राजा ही उसका सर्वेसर्वा होता था। फिर पिछले समय में सामन्त-शाही ने मौक़ा पाकर उसे कुचल, अपना प्रभुत्व क़ायम कर लिया।

यद्यपि भारतवर्ष में अशोक, चन्द्रगुप्त, अकबर आदि बड़े-बड़े सम्राटों ने अपने बाहु-बल द्वारा भारत को विशाल-साम्राज्य के रूप में परिणित किया था, परन्तु उनके उत्तराधिकारियों की दुर्बलता और समय के चक्र से उनका साम्राज्य बालू की भीत के समान ढह गया और उनके राज्यवंश तक का भी नाम न रहा।

जौनपुर राज्य का अस्तित्व मुग़ल राज्य से पूर्व का था, परन्तु नवीन महाराज की नीति से वहाँ अशान्ति का वपन होकर प्रजा-तन्त्र वाद का जन्म हुआ। अस्तु थोड़े ही आन्दोलन से महाराज का

सिंहासन हिल उठा और वहाँ प्रजातन्त्र-प्रणाली से व्यवस्था होने लगी, यह अवश्य आश्चर्य की बात है।

× × × ×

लगभग एक साल हुआ होगा कि जौनपुर के महाराज को प्रजा-पक्षीय-आन्दोलन से विवश होकर रियासत के बाहर जाना पड़ा है। राज्य-शासन की बागडोर प्रजा-मंडल के हाथ में आ गई है, किन्तु इस मंडल की ओर से यह स्थिर किया गया है कि जब तक धारा-सभा का चुनाव न हो, तब तक प्रजा-मंडल के द्वारा ही राज्य-कार्य संचालन किया जावे। हाई-कमाण्ड के पाँच सदस्य थे, उनमें श्रीकान्त (Convener) संयोजक नियत किये गये। ये महाशय एक आदर्शवादी पुरुष थे; जो गाँधीवाद के पक्के अनुयायी थे। उनकी दृष्टि में हिन्दू, मुसलमान सब समान थे। यदि उनको कोई लगन थी तो यही कि—'राज्य-शासन जन साधारण को हितकर हो, तथा गाँधीवाद के सिद्धान्तों का प्रचार किया जावे। इनका सेवा—कार्य एवं त्याग उल्लेखनीय है। इन्होंने सन् १९२०-२१ के कांग्रेस के असहयोग-आन्दोलन में पूर्ण भाग लिया था। उस समय वे विद्यार्थी थे और मैट्रिक की परीक्षा में बैठने की तैयारी कर रहे थे परन्तु प्रजा पर होने वाले अत्याचारों को देख वे उत्तेजित हो गये और उन्हें कृष्ण-मन्दिर में रहकर कष्ट भोगने पड़े। दूसरी बार सन् १९३० ई० में कांग्रेस के सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेने पर फिर कारागार में पहुँचाये गये। तत्पश्चात् सन् १९४२ के आन्दोलन में इन्हें पुनः जेल यात्रा करनी पड़ी। ज्यों-ज्यों

वे जेल में गये त्यों-त्यों उनकी तरफ लोगों की श्रद्धा बढ़ने लगी। इसके परिणामस्वरूप वह महात्माजी के दृढ़ भक्त बन गये।

निःसंदेह वे महात्माजी के उन थोड़े ही अनुयायियों में से थे जिन्हें उच्च पद प्राप्ति की लालसा किंचित् भी न थी। और जहाँ तक अपना वश चलता वे उच्च पद ग्रहण ही न करते थे।

दूसरे प्रभावशाली सदस्य श्रीयुत रामदासजी थे। यद्यपि न वे कांग्रेसवादी थे और न श्रीकान्तजी जैसे आशावादी ही तथापि उनको सन् १९४२ ई० के आन्दोलन में भाग लेने से जेल की हवा अवश्य खानी पड़ी। परन्तु इनको जेल में अधिक न रहना पड़ा क्योंकि इन्होंने नेक-चलन रहने का प्रतिज्ञा-पत्र (मुचलका) लिख दिया था। पर तो भी जेल जाने से इनका मान बढ़ गया, जिसका इन्हें पूर्ण गर्व था। उनके मित्रों को यह पता न था कि उन्होंने प्रतिज्ञा-पत्र लिखकर ही जेल से छुटकारा पाया है, न कि बीमारी के कारण। इसलिये कभी कभी ये अपने मित्रों के सम्मुख 'मियाँ मिट्ठू' बन स्वयं ही अपनी प्रशंसा करने बैठ जाते थे और जो जेल में नहीं गये थे, उनके सामने तो सिंह बनकर, डींग हाँकते हुए उनका तिरस्कार करने में न चूकते थे।

प्रजा-मंडल के उच्च कार्यकर्ता अर्थात् पदाधिकारियों में सेठ घनश्यामलाल भी थे। यों तो सेठजी कांग्रेस के अनुयायियों में गिने जाते थे, किन्तु यह केवल दिखावा मात्र था। उनकी आन्तरिक भावना प्रजा-मंडल की ओट में करोड़पति बनने की थी। अलबत्ता, वे प्रजा-मंडल को कभी कभी मित्रों के दबाव में आकर आर्थिक

सहायता अवश्य देते, जिस ही के प्रतिकार मे प्रजा-मंडल के पदाधिकारियों में उन्हें स्थान दिया गया था। आदर्श-वाद की दृष्टि से ऐसे व्यक्ति को, जिसका नैतिक-जीवन पतनोन्मुख हो चुका हो, उच्च स्थान देना उचित नहीं था परन्तु आर्थिक सहायता, जिसकी प्रजा-मंडल को नितान्त आवश्यकता थी, प्राप्त होने के कारण ही उनको पदाधिकारी बनाना ठीक समझा गया। प्रजा-मंडल के हित की दृष्टि से यह बात विरुद्ध भी न थी, क्योंकि अधिकांश में मंडल के सदस्य वे ही थे जिनको कि उदरपूर्ति की कठिनाइयाँ थीं। सेठजी का अपने कपड़े की मिल के मजदूरों के प्रति कैसा व्यवहार था, वह मजदूर-सभा के मन्त्री के शब्दों में इस प्रकार है:—

"प्रजा-मंडल की स्थापना लोक-हित के लिये की गई है लेकिन यदि आज इसके सदस्यों की ओर देखा जाय तो उनमें से कई ऐसे व्यक्ति पाये जायेंगे जो स्वार्थवश इस मंडल के सदस्य बने हैं। यदि प्रजा-मंडल ने आर्थिक सहायता पाने ही के कारण पूँजीपतियों को प्रोत्साहन दिया है तो उससे कहीं प्रजा का हित होने के बजाय अहित न हो जाय। आज सामन्त-शाही को मिटाने के लिये सैकड़ों वर्ष लग गये हैं और इतना सङ्कट उठाना पड़ा व त्याग करना पड़ा। तिस पर भी यदि पूँजीपतियों को इस प्रकार सम्मान दिया गया तो कोई अचरज नहीं कि कुछ ही समय के पश्चात् कांग्रेस के हाथ से राज्य-शासन की बागडोर पूँजीपतियों के हाथ में चली जावेगी, जिनका शासन सामन्तशाही से भी कई गुना भयंकर होगा।"

चौथा नंबर प्रजा-मंडल के उच्च पदाधिकारियों में श्रीयुत

में स्थापित हुआ था; किन्तु महाराज नीति में बड़े कुशल थे, अतः जब कोई नया हुक्म देना चाहते; तब दस बीस वित्त-हीन कृपकों को बुलवा लेते और उनको उलटा-पुलटा समझा कर हाँ करा लेते थे। फलतः अंग्रेजी दवाइयों के विरुद्ध लेक्चर झाड़ कर इस विभाग में भी कमी कर, उसे नाम मात्र को क़ायम रक्खा। यदि कोई महाराज से इस विषय में पूछ बैठता तो आप फरमाते–"जब हमारी प्रजा को ही इस बात की आवश्यकता नहीं है तो क्यों उसके सिर बोझ लादा जाय? वे फरमाते थे कि—"जंगलों में बहुत सी जड़ी-बूटियाँ मिलती हैं; अगर उनका उपयोग किया जाय तो कितना लाभ हो सकता है? सबसे पहले तो राज्य का रुपया बाहर अन्य देशों में नहीं जायगा, दूसरे, अंग्रेजी दवाइयें, देशी दवाइयों से कहीं अधिक कीमती होती हैं। इस कारण ग़रीब लोग उनसे लाभ नहीं उठा सकते। तीसरे, जड़ी-बूटियाँ राज्य के जंगलों मे ही पैदा होती हैं, इसलिये ग़रीब लोग उन्हे इकट्ठा कर लाभ उठा सकते हैं, और उन्हीं को उनका रुपया मिलता है। अथवा यों समझो कि राज्य का रुपया राज्य मे ही रहता है।"

भला ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो इन बातों का विरोध करे? महाराज के विचार कुछ भी हों; हमें तो जिसमें देश का भला हो, उसी से काम है। ऐसा ख़याल कर लोग चुप हो जाते थे। समाचार-पत्रों में भी महाराज के आदर्श-विचारों की बड़ी चर्चा प्रकाशित होती थी। कौन देखने आता था कि महाराज घरेलू दवाइयों के लिए कितनी सहायता पहुँचा रहे हैं? उन्हे क्या मालूम कि जंगलों पर

क्या क्या कानून लगा रक्खे हैं; और प्रजा को किन किन आपत्तियों का सामना करना पड रहा है ? किस संवाद-दाता को परवाह पड़ी कि वह सब बातों का पूरा पता लगावे और संवाद भेजे। इसी से तो समाचार-पत्रों पर लोग कम विश्वास करते हैं। उन वेचारो को क्या पता कि महाराज किस हद तक मितव्ययी हैं ?

पुलिस-विभाग भी कौंसिल के समय से ही गवर्नमेंट के रिटायर्ड अफसरों से भर गया था, इसलिये इसमें भी प्रचुर व्यय होता था। महाराज ने इसमे ऐसे आदमी भर्ती किये, जो इस काम से अनभिज्ञ थे। पुलिस इन्स्पेक्टर जनरल को, जो बाहर का था हटा कर, उस जगह अपने एक अनपढ़ कृपा-पात्र को नियुक्त कर दिया। इस प्रकार कम वेतन के अफसरों को रखने से इस विभाग में भी कमी हो ही गई। किन्तु राज्य में जो गुंडे थे उनको खुफ़िया-पुलिस (सी० आई० डी०) मे भर्ती कर लिया गया। इनसे क्या काम लिया जाता था, यह लिखना अनुचित होगा। मुमकिन है कि मि० गौवा की प्रसिद्ध पुस्तक (एच० एच०) में इसका वर्णन हो।

वे जेल में गये त्यों-त्यों उनकी तरफ लोगों की श्रद्धा बढ़ने लगी। इसके परिणामस्वरूप वह महात्माजी के दृढ भक्त बन गये।

निःसन्देह वे महात्माजी के उन थोड़े ही अनुयायियों में से थे जिन्हें उच्च पद प्राप्ति की लालसा किंचित् भी न थी। और जहाँ तक अपना वश चलता वे उच्च पद ग्रहण ही न करते थे।

दूसरे प्रभावशाली सदस्य श्रीयुत रामदासजी थे। यद्यपि न वे कांग्रेसवादी थे और न श्रीकान्तजी जैसे आशावादी ही तथापि उनको सन् १९४२ ई० के आन्दोलन में भाग लेने से जेल की हवा अवश्य खानी पड़ी। परन्तु इनको जेल में अधिक न रहना पड़ा क्योंकि इन्होंने नेक-चलन रहने का प्रतिज्ञा-पत्र (मुचलका) लिख दिया था। पर तो भी जेल जाने से इनका मान बढ गया, जिसका इन्हें पूर्ण गर्व था। उनके मित्रों को यह पता न था कि उन्होंने प्रतिज्ञा-पत्र लिखकर ही जेल से छुटकारा पाया है, न कि बीमारी के कारण। इसलिये कभी कभी ये अपने मित्रों के सम्मुख 'मियाँ मिट्ठू' बन स्वयं ही अपनी प्रशंसा करने बैठ जाते थे और जो जेल में नहीं गये थे, उनके सामने तो सिंह बनकर, डींग हाँकते हुए उनका तिरस्कार करने में न चूकते थे।

प्रजा-मंडल के उच्च कार्यकर्ता अर्थात् पदाधिकारियों में सेठ घनश्यामलाल भी थे। यों तो सेठजी कांग्रेस के अनुयायियों में गिने जाते थे, किन्तु यह केवल दिखावा मात्र था। उनकी आन्तरिक भावना प्रजा-मंडल की ओट में करोड़पति बनने की थी। अलबत्ता, वे प्रजा-मंडल को कभी कभी मित्रों के दबाव में आकर आर्थिक

सहायता अवश्य देते, जिस ही के प्रतिकार में प्रजा-मंडल के पदाधिकारियों में उन्हें स्थान दिया गया था। आदर्श-वाद की दृष्टि से ऐसे व्यक्ति को, जिसका नैतिक-जीवन पतनोन्मुख हो चुका हो, उच्च स्थान देना उचित नहीं था परन्तु आर्थिक सहायता, जिसकी प्रजा-मंडल को नितान्त आवश्यकता थी, प्राप्त होने के कारण ही उनको पदाधिकारी बनाना ठीक समझा गया। प्रजा-मंडल के हित की दृष्टि से यह बात विरुद्ध भी न थी, क्योंकि अधिकांश में मंडल के सदस्य वे ही थे जिनको कि उदरपूर्ति की कठिनाइयाँ थीं। सेठजी का अपने कपड़े की मिल के मजदूरों के प्रति कैसा व्यवहार था, वह मजदूर-सभा के मन्त्री के शब्दों में इस प्रकार है.—

"प्रजा-मंडल की स्थापना लोक-हित के लिये की गई है लेकिन यदि आज इसके सदस्यों की ओर देखा जाय तो उनमें से कई ऐसे व्यक्ति पाये जायेंगे जो स्वार्थवश इस मंडल के सदस्य बने हैं। यदि प्रजा-मंडल ने आर्थिक सहायता पाने ही के कारण पूँजीपतियों को प्रोत्साहन दिया है तो उससे कहीं प्रजा का हित होने के बजाय अहित न हो जाय। आज सामन्त-शाही को मिटाने के लिये सैकड़ों वर्ष लग गये हैं और इतना सङ्कट उठाना पड़ा व त्याग करना पड़ा। तिस पर भी यदि पूँजोपतियों को इस प्रकार सम्मान दिया गया तो कोई अचरज नहीं कि कुछ ही समय के पश्चात् कांग्रेस के हाथ से राज्य-शासन की बागडोर पूँजीपतियों के हाथ में चली जावेगी, जिनका शासन सामन्तशाही से भी कई गुना भयंकर होगा।"

चौथा नंबर प्रजा-मंडल के उच्च पदाधिकारियों में श्रीयुत

मानिकचन्दजी का था। ये उस वंश के थे जिनके पूर्वज कई शताब्दियों से जौनपुर राज्य के उच्चपदाधिकारी बनते चले आए थे। एक समय तो ऐसा था जबकि इनके एक पूर्वज राज्य के प्रधान मंत्री थे और जिन्होंने उस समय के महाराज को अपनी कठपुतली बना कर रक्खा था और कुल राज्य का संचालन अपने कुटुम्बियों द्वारा करते थे। ग़रीब प्रजा से लाखों रुपये चूँसे, इसी कारण मानिकचन्द्र बड़े धनवान थे, किन्तु उस समय के धन का पता बहुत ही कम लोगों को मालूम था। वस्तुतः यह पैसा खरी कमाई का न था। मानिकचन्द्र स्वयं पूर्व महाराज के शासन काल में डाण (कस्टम्स) महकमे के उच्च अफसर रह थे और अन्यायपूर्ण धन बटोरने में प्रसिद्ध थे। महाराज पर उनके कुटुम्बियों का प्रभाव होने से वे उन से प्रसन्न थे। अस्तु उनको छात्रवृत्ति देकर एम० ए०, एल० एल० बी० तक शिक्षा दिलाई थी। फिर पढ़ाई समाप्त होने के बाद ये राज्य के उच्च पद पर नियुक्त किये गये। इसके अतिरिक्त उनका राज्य-शासन मे यथेष्ट हाथ रहा। जब उन्होंने देखा कि देशी राज्य के अन्त होने का समय समीप है; तब इन्होंने भी रंग पलटना आरंभ किया, और जौनपुर राज्य मे नमक तथा डाण का महसूल बढ़ाने आदि के सम्बन्ध मे राज्य के विरुद्ध जो आन्दोलन हुए, उनमें उनका प्रमुख हाथ रहा; अर्थात् यह कहा जाय कि ये आन्दोलन के मस्तिष्क थे, और दूसरे शब्दों में शक्तिदाता कहा जाय तो कोई बुराई न होगी। इतना होते हुए भी उनकी चतुरता इतनी बढ़ी चढ़ी थी कि महाराज को, आन्दोलन में इनका हाथ होने का लेशमात्र भी संदेह न हुआ।

इसके अतिरिक्त ये वही महानुभाव थे, जिन्होंने महाराज को प्रजा-पक्षीय-आन्दोलन को नष्ट करने के लिये दीन प्रजा पर गोली चला कर नरसंहार करने के लिए प्रेरित किया था।

हालाँ कि महाराज ईश्वर-प्रदत्त अधिकार (Divine Rights) के सिद्धान्तवादी थे पर संकीर्ण-नीति होनेसे उनकी ओर से प्रजा को कोई सुख न मिला। क्षत्रिय होने से उनको अपने पूर्वजों पर अभिमान था, जिन्होंने भारत की स्वतंत्रता के लिये रक्त बहाया था, मुगलों के विरुद्ध तलवार उठाई थी और फिर सिपाही विद्रोह के समय यदि उनका मंत्री धोखा न देता तो संभव था कि भारत में अंग्रेजों का साम्राज्य जिस अज्ञानता से स्थिर हुआ वह न हो पाता। अस्तु, उनके हृदय में अपनी क्रूरता पर पश्चात्ताप और दुःख हुआ। अंत में अपने सलाहकारों के, 'प्रजा पर गोली चलाने के' परामर्श के विरुद्ध उन्होंने यही निश्चय किया कि राज्य छोड़ कर चला जाना ही प्रजा-हित के लिये उचित होगा।

जावेगा और फिर कुछ समय के पश्चात् पुनः आप लौट सकेंगे, उस समय प्रजा-मंडल का संगठन ढीला पड़ जायगा।"

महाराज की स्थिति इस समय बड़ी डाँवाडोल थी और मानिकचन्द की सम्मति के विरुद्ध उन्हें कोई अन्य मार्ग ही न सूझा। अन्त में उन्होंने सकुटुम्ब काशी यात्रा की तैयारी कर दूसरे दिन प्रातःकाल ही मोटरों द्वारा प्रस्थान कर दिया, और पीछे राज-काज का भार मानिकचन्द के कंधों पर छोड़ गये।

अब क्या होता है, यह देखने की बात है। मानिकचन्द जो एक बड़ा ही धूर्त कर्मचारी था, महाराज की अविद्यमानता का लाभ उठाकर अपने स्वार्थ-साधन के लिये तत्पर हो गया। महाराज जो कुछ आभूषण रत्न आदि लेजा सके सो तो अपने साथ ले गये। शेष सबही बहुमूल्य वस्तुएँ, जैसे हाथी-घोड़ों के तथा अन्य सोने चाँदी के जेवर, चाँदी के पाट इत्यादि २ जो राज्य खजाने मे रक्खे हुए थे, उनमे से बहुतसा सामान महाराज के चले जाने के बाद तुरन्त ही मानिकचन्द ने अपने घर पहुँचा दिया। अन्य वस्तुएँ जो बहुत बड़ी भारी थीं, जैसे हाथी के हौदे राज-सिंहासन आदि उनको तुड़वाकर चाँदी की ढालियाँ बनवालीं और समय पाकर अपने घर पहुँचादीं। बचा-खुचा निरर्थक भाग राज्य के आदमियों द्वारा जमीन मे गड़वा दिया गया। इस काम में एक दिन-रात लगा, पर वास्तविक भेद किसी को ज्ञात न हो सका। इसके पीछे प्रजा-मंडल के कार्यकर्त्ताओं को बुलाकर महाराज के चुपचाप राजधानी से चले जाने की सूचना दी और राज महलो में प्रजामंडल के नेताओं को

लेजाकर खाली भंडार (खज़ाना) दिखलाया और कह दिया कि महाराज सब बहुमूल्य चीजें अपने साथ ले गये और राज्य को चौपट कर गये हैं।

मानिकचन्द की कुटिल नीति से प्रजा-मंडल के नेता अनभिज्ञ थे, और वे उसे प्रजा-पक्षीय व्यक्ति समझते थे फलतः प्रजा-मंडल के नेताओं को विश्वास हो गया कि अवश्य ही ऐसा हुआ है; किन्तु उन्हें स्वप्न मे भी यह विचार न हुआ कि मानिकचन्द ने उपरोक्त बहुमूल्य वस्तुओं से अपना घर भरने के पीछे उन्हे सूचना दी है। प्रजामडल के नेताओं ने मानिकचन्द की, जो कि एक रँगा हुआ सियार था और जिसने उनकी हल-चल में भाग लिया था, बड़ी प्रशंसा की और मुख्य कार्य-कर्त्ताओं में उसको प्रमुख स्थान दिया। प्रजा के नेतागण राज-काज से अपरिचित थे, इसलिए भी मानिकचन्द का सहयोग राज्य-शासन चलाने के लिये नितान्त आवश्यक था।

समय की गति एकसी नहीं रहती है। अस्तु, मानिकचन्द के पूर्वजों की सम्मान वृद्धि तथा उन्हे राज्य-शासन की बागडोर मिलना, एकमात्र महाराज तथा उनके पूर्वजो ही की कृपा का कारण था। आज उसी वंश के इस व्यक्ति ने अवकाश पाकर महाराज का बहुमूल्य खज़ाना चुरा लिया और उन्हें सद् परामर्श से दूर रक्खा। जिसका परिणाम यह हुआ कि महाराज को राज्य से हाथ धोना पडा। आज वही कर्मचारी महाराज का स्वामि-भक्त सेवक होने के प्रतिकूल स्वामि-द्रोही होकर प्रजा का नेता बनने का इच्छुक है, और इसके अतिरिक्त उसके विचार प्रजा के लिये हितकर न होते हुए भी, वह आडम्बर से

प्रजा का नेता बन गया है और उस रँगे हुए सियार को प्रजा-मंडल के नेता भी अपना रहे हैं। महाराज को स्वप्न में भी यह विचार न था कि उनका कृपा-कांक्षी तथा विश्वास-पात्र कर्मचारी स्वयं ही राज्य-शासन करने की लालसा रखता है। उन्हें यह भान न था कि उसके पूर्वज जो राज्य के खज़ाने से पाले-पोसे गये थे, उन्हीं का एक कुटुम्बी उन (महाराज) के विरुद्ध इतना भयंकर षड़यंत्र रचेगा!

पाँचवाँ सदस्य सुरेन्द्रसिंह था, जो कुछ ही अरसे से मज़दूर किसान दल का नेता था। उसका जन्म क्षत्रिय वंश में हुआ था। उसके वंशज एक बड़ी जागीर के ठाकुर थे, लेकिन भूतपूर्व महाराज की राज-नीति से उसके पिता के हाथ से जागीर निकाली जा चुकी थी। सुरेन्द्रसिंह के माता-पिता भूखों मरते मर गये। उनके वंश में केवल यही रहा जिसके विचार बचपन से ही प्रजा की सेवा की ओर थे, किन्तु अब तक वह महाराज के डर से अधिक सेवा नहीं कर पाया था। उसके दिल में यह बात समा चुकी थी कि राजा तब ही रह सकता है जब कि वह प्रजा की सेवा तन, मन और धन से करे, यहाँ तक कि राज्य को अपना न समझ कर प्रजा की धरोहर समझे। वह जानता था कि उत्तरदायी शासन-प्रणाली होने पर राजा अपने पद पर रह सकता है और यदि राजा इस बीसवीं शताब्दी में ऐसा नहीं करेगा तो उसका अस्तित्व ही न रहेगा। इसके अतिरिक्त उसके विचार थे कि—राजा के न रहने पर शासन की बागडोर पूँजी-पतियों के हाथ में न दी जाकर, प्रजा

के हाथ में दी जानी चाहिये; वरना पूँजी-पति राजा लोगों से भी ज्यादा क्रूर होंगे। वह पूँजी-वाद को साम्राज्य-वाद से भी बुरा समझता था। यों तो उसका जन्म उच्च कोटि के घराने में ही हुआ था, किन्तु उसकी प्रवृत्तियाँ दुःख पाने से साम्यवाद (Communism) की ओर झुकती गई और उसको विश्वास हो गया कि भारत का कल्याण साम्य-वाद से ही होगा।

मनुष्य परिस्थितियों का दास है, अतः जो विचार उसके मस्तिष्क में उत्पन्न होते हैं यदि उनकी ओर देखा जाय तो भली भाँति से ज्ञात होगा कि मनुष्य यद्यपि कार्य करने में स्वतंत्र है तो भी जिन परिस्थितियों में वह विचरता है, वे उस पर प्रभाव डाले विना नहीं रहती हैं। सुरेन्द्रसिंह के अन्तःस्थल में जो क्रान्ति की भावनाएँ छिपी हुई थीं, वे प्रजा-तंत्र की स्थापना हो जाने पर बाहर निकल आईं। एवम् उसकी लगन तथा भावुकता उसे ऊपर उठाने लगी और उसने यह प्रण किया कि वह आजन्म विवाह न करेगा तथा अपना सारा जीवन दीन-जनों की सेवा के लिये अर्पण कर देगा।

प्रजा-मंडल के उच्च पदाधिकारियों की उपर्युक्त शासन-संचालन-समिति का मुख्य कार्य यह था कि जब तक चुनाव होकर कोई एक दल, जिसके सदस्यों की अधिक संख्या राज्य-परिषद् में हो, वह अपना मंत्रि-मंडल क़ायम न करे, तब तक ही उक्त समिति के द्वारा राज्य का कार्य चलाया जायगा अर्थात् यह कमेटी एक प्रकार से केयर-टेकर (Care-taker) गवर्नमेंट का कार्य संचालन

करने लगी। तदनन्तर उसकी ओर से एक योजना प्रजा के सामने रक्खी गई और चुनाव की तारीख भी नियुक्त कर दी गई। चुनाव का परिणाम निकलने के पूर्व राज्य-शासन में कोई परिवर्तन नहीं होगा। शासन-समिति के उपर्युक्त पाँच सदस्यों में से मानिकचन्द के अतिरिक्त चारो अपरिचित थे। इसी कारण मानिकचन्द को उक्त समिति का सर्वे-सर्वा होने का सुयोग मिल गया और स्वयं संयोजक भी उस की राय को सम्मान देने लगा। परन्तु दूसरे सदस्यों में विशेषतः सुरेन्द्रसिंह, मानिकचन्द की नीति से सन्तुष्ट न था। उसे उल्टा भय था कि यदि मानिकचन्द के हाथ में राज्य सत्ता रह जायगी तो निःसन्देह वह शासक बन बैठेगा और ऐसा होनेसे प्रजा को कोई लाभ मिलने की सम्भावना न रहेगी। सुरेन्द्रसिंह एक नवयुवक था और उसमें अनुभव का अभाव था, अतः वह केवल धहस करके रह जाता और अन्त मे मानिकचन्द की ही राय बहुतमत से स्वीकार होती थी।

दशवाँ परिच्छेद

धारा-सभा व चुनाव

चुनाव दिवस के लगभग १५ दिन शेष रहे हैं। यह चुनाव राज्य-काल में पहला ही है। अतएव अनपढ किसान एव भील आदि जातियो मे न तो इसकी कोई चर्चा ही सुनाई दे रही थी और न उनको इसके महत्व का ही बोध था। यद्यपि प्रजा-मडल का इन जातियों एव काश्तकारों में पूरा २ प्रचार हुआ, किन्तु इन लोगों को इसकी पूरी प्रतीति न हो पाई। इसलिये एक वृद्ध कृपक ने प्रजा-मडल के कार्यकर्त्ता को, जो कि रामदास नामक एक प्रमुख नेता थे, अपने विचार प्रकट करते हुए यो कहा—"आप कहते हो सो ठीक है, किन्तु इस चुनाव से हमें क्या लाभ है?"

नेता (झुंझलाकर)—"भाई! तुम जानते हो कि कई शताब्दियों से महाराज का वश अपने पर शासन करता आया है, पर वर्तमान महाराज ने हमें कभी उचित अधिकार नहीं दिए। अत हमने आन्दोलन उठाया और उन्हे राज्य से नौ-दो-ग्यारह होना पडा। अब महाराज के बजाय आप लोगों द्वारा निर्वाचित कमेटी ही राज्य-शासन करेगी।"

काश्तकार—"अच्छा तो सबसे पहले तो आप यह बतलाइये कि आप लोग होते कौन हैं जो महाराज को गद्दी से हटावें? हमसे

तो आपने पूछा तक भी नहीं। यह तो महाराज की इच्छा है कि वे राज छोड़ कहीं चले जायँ, वरना हमसे पूछा जाता तो हम उन्हें ऐसा कभी नहीं करने देते।"

नेता—(आश्चर्यान्वित होकर)—"भाई ! मैं तो समझता था कि तुम यह सुनकर प्रसन्न होवोगे कि अब प्रजा का ही शासन होगा, लेकिन तुमने तो महाराज के राज छोड़जाने पर अप्रसन्न हो उल्टी खिन्नता दर्शाई।"

काश्तकार—"बाबूजी ! आप कहते हो सो ठीक है, लेकिन यह तो कहिये कि महाराज के बजाय राज-काज कौन करेगा ? हम तो अनपढ़ हैं।"

नेता—"देखिये, कुल राज्य के हरएक सूबे से दो-दो व्यक्ति, जिनको कि अधिक मत (Votes) मिलेंगे, चुने जायेंगे। फिर कुछ जिलों के नेता लोग 'राज-परिषद्' के सदस्य नियुक्त होंगे। इन मेम्बरों में से प्रजा-मंडल व दूसरे दल के मेम्बर ज्यादा होंगे यानी जिस दल का बहुमत होगा; उसी दल का नेता प्रधान बनाया जायगा और राज्य-शासन चलाने के हेतु प्रधान, अपनी पार्टी के चन्द व्यक्तियों को मंत्रि-मंडल के मेम्बर नियुक्त करेगा। अन्त में यही मंडल महाराज के बजाय राज्य-प्रबन्ध करेगा।"

काश्तकार—"तो इससे आप का यह मतलब है कि राज्य का काम-काज आप लोग करेंगे ?"

नेता—"तुम यह क्यों कहते हो कि हम लोग ही राज्य करेंगे।"

काश्तकार—"इसलिये कि हम तो काश्तकार हैं। हमे अपने

खेती के काम से ही अवकाश कहाँ और इसके अलावा हम लोग ठहरे अनपढ़, इससे हमे क्या मालूम कि राज-काज कैसे करते हैं ?"

नेता—"भाई ! आप लोगों में जो पढ़े-लिखे हैं वे तो राज-कार्य कर सकते हैं ?"

काश्तकार—"सो तो आपने यथार्थ कहा, किन्तु यह तो बतलाइये कि हम में से कितने पढ़े लिखे हैं ?"

नेता—"अभी तक तो आप लोगों मे कोई पढ़ा-लिखा नहीं है; और यह महाराज की कूटनीति ही का कारण है कि आप लोग यों निरक्षर रहे, परन्तु अब तो अपने ही द्वारा राज्य-शासन होगा। इसलिए इस बात का पूर्ण ध्यान रक्खा जावेगा कि आप लोगो की शिक्षा-दीक्षा का पूर्ण प्रबन्ध हो ताकि कुछ ही वर्षों में आप लोग शिक्षित होकर राज-काज में हाथ बटाने लग जायँ।"

काश्तकार—"आपका अभिप्राय यह है कि हम लोग अब पढ़ना-लिखना सीखें, तब जाकर राज-काज करने के लायक बनेंगे।"

नेता—"हाँ ! आपने मेरे मन्तव्य को ठीक समझा, मेरा अभिप्राय यही है।"

काश्तकार—"मुझे यह तो समझाइये कि हमे शिक्षित बनने में कितना अरसा लग जायगा ?"

नेता—"कम से कम बीस वर्ष।"

काश्तकार—"तो बीस वर्ष तक आप राज्य करेंगे। फिर हमें राज्य करने का अवसर देंगे। यह बात तो मेरी समझ में नहीं आती।"

नेता—"क्यों, ठीक तो है, जब आप लोग योग्य बन जावेंगे तो आप चुनाव में खड़े हो सकेंगे और आप के लिए बहुमत से 'वोट्स आवेंगे तो आप 'धारा-सभा' के मेम्बर चुने जावेंगे। फिर चुनाव के पश्चात् ही यदि आप में से कोई व्यक्ति योग्य हुआ तो मंत्री भी बन सकेगा।"

काश्तकार—"अजी बाबूजी! आप कहते हो सो सब ठीक है, किन्तु एक बार जब आप लोगों को राज्य करने की चाट लग जायगी तो फिर हम चाहे पढ़े-लिखे ही क्यों न हों, चुनाव में हमें आप कब बाजी लेने देंगे? इन सब बातों से तो यही जान पड़ता है कि आप लोगों ने बेचारे महाराज को निकाल कर राज्य की बागडोर अपने हाथों में लेली है।"

नेता—"अरे भाई! तुम तो मेरा मतलब ही नहीं समझते हो।"

काश्तकार—"मैं तो सब समझता हूँ। यद्यपि आपकी निगाह में अनपढ़ व गँवार हूँ, लेकिन बाबूजी आप अभीतक जानते नहीं हो कि राज-मद कैसा होता है? मैं आपको एक उदाहरण द्वारा अपना अभिप्राय स्पष्ट करता हूँ—"हम काश्तकार लोग मवेशी रखते हैं; अतः उन्हीं की मिसाल देता हूँ कि जब एक साँड को मद चढ़ जाता है तब उसे सिवाय गायों के और कुछ नज़र ही नहीं आता। हम उसे हल में जोतने अथवा चड़स खिंचवाना चाहते हैं तो वह हमारे मारने-ताड़ने पर भी काम नहीं देता। इसके अलावा वह घास-पानी तक भी छोड़ देता है और यदि कहीं उसे दूसरा साँड नज़र आवे तो उसकी ओर मारने को दौड़ता है।

यह तो रहा जानवरों का किस्सा। अब लीजिये आदमी की बात, सो उसको भी जब मस्ती सवार हो जाती है तो वह अपनी बे-तुक की उड़ाने लगता है यानी उसकी आँखों में अंधेरा छा जाता है और अपनी मुरादों के आगे दूसरों की तरफ निगाह भी नहीं करता। इसी तरह यह राज-मद है। जैसा कि बड़े-बूढ़े कहते आये हैं कि राज-मद आजाने पर राजा लोग अन्धे हो जाते हैं। इसी प्रकार आप लोगों पर भी राज-काज करने पर मद छा जायगा और भूल कर भी हमारी तरफ कभी नजर तक न उठाओगे। बाबूजी! नाराज मत होना। मैं माफी माँगता हूँ। मुझे अब तक जब कभी पढ़े-लिखों से काम पड़ा है, तो यही अनुभव हुआ है कि वे लोग अपना ही घोड़ा छाँये बाँधते हैं और अपनी चालाकी में हरगिज नहीं चूकते। यहाँ तक कि जब हम उनसे उधार लेने जाते हैं तो वे क्या करते हैं कि हमें अस्सी रुपये देकर सौ रुपये का दस्तावेज लिखा लेते हैं। इसके अतिरिक्त इकन्नी रुपया से कम तो ब्याज लिखवाते ही नहीं हैं। जिस पर भी तुर्रा यह है कि दस्तावेज में हमारी काश्त की ज़मीन भी रहन या बिकाव करा लेते हैं। दुर्भाग्य-वश कहीं रुपयों की अदायगी मे देरी हुई तो शर्त के अनुसार या तो ज़मीन पर कब्ज़ा कर लेंगे या हमें बे-दखल करा देंगे अथवा फिर हमारे विरुद्ध अदालत में दावा कर शर्त मुताबिक मय खर्चा अदालत डिग्री करा बज़रिये कुर्की या नीलाम सब रुपये वसूल कर लेंगे।"

नेता—"भाई, तुमने जो यह कहा, उसे मैं मानता हूँ। इसी

गे तो हम भी कहते हैं कि इन दिक्कतों से बचने का एकमात्र इलाज 'प्रजा-शासन' की स्थापना ही है, सो वह अब हो चुकी है। अस्तु, विश्वास रक्खो कि आइंदा ऐसी बातें कदापि न होने पावेंगी।"

काश्तकार—"तो क्या आप अदालतें तोड़ देंगे ?"

नेता—"नहीं, अदालतें तो नहीं टूटेंगी, लेकिन हम ऐसे कानून जारी करेंगे कि जिससे कोई, तुम्हें ज़मीन से बेदखल न कर सके।"

काश्तकार—"ऐसा क़ानून जारी होगा तो हमें कौन रुपये उधार देगा ?"

नेता—"राज अपने ख़ज़ाने से देगा या ऐसा क़ानून रक्खा जायगा जिससे साहूकार तुम लोगों से ६) छः रुपये की सदी से अधिक व्याज न ले सकें।"

काश्तकार—राज से क़र्ज़ लेने में तो हमे आपत्ति होती है, क्योंकि यदि वक्त पर अदायगी न हुई तो राज बिना दावा के ही हमें बेन्दखल कर देगा। रहा सवाल साहूकारों से आठ आने के व्याज पर रुपये मिलने का, सो यह तो ठीक है; परन्तु बाबूजी! इसका ख्याल रखना। ऐसा न हो कि साहूकार रुपये देने से इन्कारी करें। शायद आपको याद नहीं, जब आप बच्चे थे, उस वक्त हम सब काश्तकार मिलकर महाराज के पास पुकारू गये थे और हम लोगों ने यह फ़रियाद की थी कि साहूकार लोग हमारी काश्त की ज़मीन को, जोकि क़र्ज़ पेटे उनके कब्ज़े में वर्षों से चली आ रही है, नहीं छोड़ते हैं। यद्यपि उन्होंने एक रुपये के बजाय दस रुपये वसूल कर लिये हैं तो भी वे उसे छोड़ने से सर्वथा इन्कार

हैं। कहने पर यह जवाब देते हैं कि जो कर्जे की रक़म ली है, वह ब्याज समेत एक मुश्त अदा करने पर छोड़ेंगे, वरना नहीं।" अब आप विचार सकते हैं कि, यदि सूद दर सूद (मिश्र ब्याज) जोड़ा जाय तो केवल ब्याज की रकम ही मूलधन से कई गुनी अधिक बढ़ जावेगी। ऐसी सूरत में १००) मूलधन के बजाय हमसे १०००) एक हजार लेना चाहें तो हम कहाँ से दे सकेंगे? हमने साहूकारों से यह भी कहा कि जमीन की उपज से सालाना जो दो फसलें होती हैं यदि उनकी कीमत जोड़ी जाय तो भी मूलधन से कई गुनी अधिक रकम उनको पहुँच चुकी है, लेकिन वे तो फसलों की आमद को रक़म की अदायगी में शुमार ही नहीं करते। महाराज को इन उज्रात-वजूहात से हम पर रहम आया और उन्होंने एक क़ानून भी जारी किया, जिसका अभिप्राय यह था—"यदि मूलधन से पाँच गुनी रकम खेत की आमदनी से साहूकार ने वसूल पा ली है तो उस हालत में रहन की ज़मीन बिला अदायगी मूलधन व सूद दर सूद के साहूकार से हटाई जाकर काश्तकार के सुपुर्द कर दी जाय।"

× × × × ×

नेता काश्तकार के सवालों का भली-भाँति उत्तर देने में विवश व असमर्थ था। यह बात भी ठीक ही थी क्योंकि उस नेता ने कोई उचित शिक्षा प्राप्त नहीं की थी और न वह काश्तकारों की परिस्थिति से ही परिचित था। वह तो कुछ वर्षों से केवल कांग्रेस के उद्देश्यों से प्रभावित होकर अब प्रजा-मंडल का सदस्य बन गया था। उसे यह न मालूम था कि नेता बनना कितना कठिन है? यों तो हर एक

मनुष्य नेतृत्व का पुछल्ला लगाना चाहता है किन्तु ऐसा करने के लिए किन किन गुणों की आवश्यकता है, उनकी ओर जितना ध्यान देना चाहिये उतना नहीं देता। इसी कारण सैकड़ों मनुष्य *जो नेता कहलाते हैं, उनमें से चन्द ही सफलता प्राप्त करते हैं* और फिर उनमें से भी विरले ही नेता कहलाने योग्य होते हैं। बिना त्याग के नेता बनना कठिन है। उक्त नेता काश्तकारों में प्रजा-मंडल के उद्देश्यों का प्रचार करने के पश्चात् मिल-मजदूरों के पास पहुँचा और शाम को उन्हें एक निश्चित स्थान पर एकत्रित कर उसने वहाँ अपने विचार प्रकट किए। तत्पश्चात् उसने भिन्न-भिन्न मजदूरों के मुखियाओं से वार्तालाप की। एक मजदूर ने बातचीत के दौरान में नेता से यों पूछा:—"*क्या आप यह बता सकते हैं कि प्रजा-मंडल* किस हद तक मजदूरों के दुःखों को दूर कर सकता है ?"

नेता—"प्रजा-मंडल का उद्देश्य है कि मजदूरों को अधिक से अधिक वेतन दिलाने की चेष्टा करे और उनके दुःख-दर्दों को दूर करने का उपाय करे।"

मजदूर—"यह तो आपने ठीक कहा, लेकिन मेरे कहने का अभिप्राय यह है *कि क्या हमें वे ही सुविधायें मिलेंगी,* जो प्रायः अन्य देशों में हैं ?"

नेता—"अवश्य किन्तु धीरे-धीरे !"

उन्हें उन लोगों के हाथ से छुड़ाकर राज्य अपने अधिकार में ले लेगा ?"

नेता—"भाई तुमने तो बड़ा बेढब सवाल किया। अब तक तो इस ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया गया। जिसका कारण यही है कि अब तक तो इसकी बागडोर राज्य के हाथ में थी, न कि प्रजा के। अतः अब कुछ समय तक प्रजा-शासन चलने दो, बाद में देखा जायगा।"

मजदूर—"इससे तो यह मालूम होता है कि आप की सहानुभूति मजदूरों की ओर नहीं है। हमारे मजदूर-नेता ने हमको पहले ही कह दिया है कि प्रजा-मंडल के चुनाव में वोट्स नहीं दिये जाने चाहिये, क्योंकि जो इसके सदस्य हैं उनमें से चन्द मिलों के मालिक हैं। इन मिल-मालिकों को क्या गरज पड़ी है कि वे हमारे दुःख-दर्दों को मिटावें ? वे तो यह चाहते हैं कि रात-दिन हमें मिलों में जुटाए रहें और उन्हें अधिक से अधिक मुनाफा हो। भला फिर प्रजा-मंडल हमारे संकटों को क्योंकर मिटाने की चेष्टा करेगा ? हम कदापि प्रजा-मंडल का वोट्स (मत) न देंगे, बल्कि हमारी जो एक छोटी-सी मजदूर-पार्टी है, जिसके नेता सुरेन्द्रसिंह हैं उसके आदेशानुसार हम अपने वोट्स देंगे।"

नेता—"भाई उनके विचार तो साम्यवादी हैं जो कि यहाँ की स्थिति के विपरीत हैं।"

मजदूर—"महाराज को निकालते समय तो आपने ऐसा नहीं सोचा और अब जब कि राज्य में प्रजा-तंत्र है ऐसे समय में आप

मनुष्य नेतृत्व का पुछल्ला लगाना चाहता है किन्तु ऐसा करने के लिए किन किन गुणों की आवश्यकता है, उनकी ओर जितना ध्यान देना चाहिये उतना नहीं देता। इसी कारण सैकड़ों मनुष्य जो नेता कहलाते हैं, उनमें से चन्द ही सफलता प्राप्त करते हैं और फिर उनमें से भी विरले ही नेता कहलाने योग्य होते हैं। विना त्याग के नेता बनना कठिन है। उक्त नेता काश्तकारों में प्रजा-मंडल के उद्देश्यों का प्रचार करने के पश्चात् मिल-मजदूरों के पास पहुँचा और शाम को उन्हें एक निश्चित स्थान पर एकत्रित कर उसने वहाँ अपने विचार प्रकट किए। तत्पश्चात् उसने भिन्न-भिन्न मजदूरों के मुखियाओं से वार्तालाप की। एक मजदूर ने बातचीत के दौरान में नेता से यों पूछाः—"क्या आप यह बता सकते हैं कि प्रजा-मंडल किस हद तक मजदूरों के दुःखों को दूर कर सकता है?"

नेता—"प्रजा-मंडल का उद्देश्य है कि मजदूरों को अधिक से अधिक वेतन दिलाने की चेष्टा करे और उनके दुःख-दर्दों को दूर करने का उपाय करे।"

मजदूर—"यह तो आपने ठीक कहा, लेकिन मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि क्या हमें वे ही सुविधायें मिलेंगी, जो प्रायः अन्य देशों में हैं?"

नेता—"अवश्य किन्तु धीरे-धीरे!"

मजदूर—"तो धीरे-धीरे हमारी स्थिति ठीक की जायगी, लेकिन मैं यह पूछना चाहता हूँ कि क्या प्रजा-मंडल यह आश्वासन देने को तैयार है कि जो ये मीलें चन्द व्यक्तियों की पूँजी से चल रही हैं

उन्हें उन लोगों के हाथ से छुड़ाकर राज्य अपने अधिकार में ले लेगा ?"

नेता—"भाई तुमने तो बड़ा बेढब सवाल किया। अब तक तो इस ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया गया। जिसका कारण यही है कि अब तक तो इसकी बागडोर राज्य के हाथ में थी, न कि प्रजा के। अतः अब कुछ समय तक प्रजा-शासन चलने दो, बाद में देखा जायगा।"

मज़दूर—"इससे तो यह मालूम होता है कि आप की सहानुभूति मज़दूरों की ओर नहीं है। हमारे मज़दूर-नेता ने हमको पहले ही कह दिया है कि प्रजा-मंडल के चुनाव में वोट्स नहीं दिये जाने चाहिये, क्योंकि जो इसके सदस्य हैं उनमें से चन्द मिलों के मालिक हैं। इन मिल-मालिकों को क्या गरज़ पड़ी है कि वे हमारे दुःख-दर्दों को मिटावें ? वे तो यह चाहते हैं कि रात-दिन हमें मिलों में जुटाए रहें और उन्हें अधिक से अधिक मुनाफा हो। भला फिर प्रजा-मंडल हमारे संकटों को क्योंकर मिटाने की चेष्टा करेगा ? हम कदापि प्रजा-मंडल को वोट्स (मत) न देंगे, बल्कि हमारी जो एक छोटी-सी मज़दूर-पार्टी है, जिसके नेता सुरेन्द्रसिंह हैं उसके आदेशानुसार हम अपने वोट्स देंगे।"

नेता—"भाई उनके विचार तो साम्यवादी हैं जो कि यहाँ की स्थिति के विपरीत हैं।"

मज़दूर—"महाराज को निकालते समय तो आपने ऐसा नहीं सोचा और अब जब कि राज्य में प्रजा-तंत्र है ऐसे समय में आप

मजदूरों की सुविधाओं की ओर ध्यान नहीं देना चाहते। इससे तो यह मालूम पड़ता है कि आप के दल के उद्देश्य मजदूरों के अनुकूल नहीं हैं, अपितु आप उनसे वही मजदूरी लेना चाहते हैं जो कई एक वर्षों से ली जा रही है। आपको शायद मालूम नहीं है कि मिलों में हमारी क्या हालत है और हम से प्रतिदिन कितना काम लिया जाता है? इसके उपरान्त हमें झोपड़ियों में रहना पड़ता है। एक २ फूस की झोंपडी में छः या सात आदमी, औरतें व बाल-बच्चों को गुजारा करना पड़ता है। यदि कहीं किसी मजदूर को मशीन चलाते चोट पहुँच जाती है तो उसका इलाज कराना तो दूर रहा, उसको पूरे वेतन पर छुट्टी तक भी तीन दिन से ज्यादा की नहीं दी जाती।"

नेता—"भाई, मैं सब जानता हूँ परन्तु एक दम इन दुःखों को हटाया नहीं जा सकता, किन्तु आप विश्वास रक्खें, शनैः शनैः अवश्य ही कुछ किया जावेगा।"

मजदूर—"हमारे नेता तो कहते हैं कि साम्यवाद-पार्टी के हाथ में राज्य की बागडोर आजाने पर एक दिन में सब मजदूरों के दुःख मिटाये जा सकते हैं। यदि आप इसका वादा करें तो फिर हम मजदूर आपको मत (Votes) देने के लिये विचार करेंगे।"

नेता—"ऐसा आश्वासन देना कि, हम एक ही दिन में आप लोगों के सब कष्ट मिटादेंगे, बिलकुल असत्य है।"

मजदूर—"तब तो हम वोट्स आपको नहीं देंगे।"

× × × ×

नेता, मजदूर की इन्कारी को चुपचाप सुन कर चला गया। उसे बड़ा दु:ख हुआ कि मजदूर तथा काश्तकार प्रजा-मंडल को वोट्स देने में सहमत नहीं हैं, लेकिन वह जानता था कि अन्य लोगों के वोटस उन्हें अधिक संख्या में मिलेंगे, जिन से प्रजा-मंडल अवश्य ही दूसरे दलों की सदस्य-संख्या से बहुमत में रहेगा और मंत्रि-मंडल भी प्रजा-मंडल ही के द्वारा बनाया जावेगा।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

प्रजा-मंडल का शासन

आज धारा-सभा का पहला दिवस है और समय प्रातः साढ़े ग्यारह बजे का है। इस चुनाव में इन दल-विशेष के सदस्यों की संख्या है:—

प्रजा-मंडल ४५, जागीरदार ५, व्यापारी-दल १०, मजदूर एवं साम्यवादी ७, मुसलमान ५ व अन्य ८। कुल संख्या ८० है। प्रजा-मंडल को बहुमत में होने से मंत्रि-मंडल बनाने का अवसर प्राप्त हुआ था।

आज अधिक संख्या में सदस्य गांधी टोपी व खद्दर की कमीजों में थे। उन्हें कौन कहने वाला था कि ऐसी पोशाक में वे लोग धारा-सभा में प्रवेश नहीं कर सकते। क्योंकि आज जौनपुर में महाराज का राज्य न था, बल्कि प्रजा का। इसलिये रोक-टोक कौन कर सकता था? आज उसी दल को, जिसके सदस्य बहुमत से धारा-सभा में चुने गये थे, मंत्रि-मंडल का निर्माण करना था, किन्तु इसके पहले सभापति व उपसभापति के चुनाव करने की आवश्यकता थी, वरना सभा की कार्यवाही ही कैसे हो सकती थी? अस्तु, उनका चुनाव तत्काल ही हो गया। इसके पश्चात् कार्य आरंभ हुआ।

धारा-सभा के एक एक करके कुल सदस्यों ने यह प्रतिज्ञा की कि वे इस सभा के नियमों का पालन करेंगे और शासन-प्रणाली (राज्य) के प्रति भक्ति (Loyalty) रखेंगे। प्रायः जो शपथ खिलाई जाती है उसके अतिरिक्त यह भी प्रतिज्ञा कराई गई कि भूतपूर्व महाराज और उनके कुटुम्ब मात्र को राज्य में पुनः प्रवेश होने और राज्य-सत्ता उनके हाथ में देने की सहायता न देंगे। यह प्रण वहाँ की परिस्थिति को देखते हुए उचित भी था, क्योंकि काश्तकारों मे जिन्हें स्वर्गीय महाराज का स्वर्ण-काल स्मरण था, वे यह नहीं चाहते थे कि महाराज के परिवार को हमेशा के लिये राज-गद्दी से अलग कर दिया जावे। इनमे से कुछ का तो कहना था कि जिस वंश में वीर, भक्त और दयालु नरेश पैदा हुए हैं उस कुटुम्ब में कोई एक यदि बुरा भी निकल जावे तो इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उसके सारे वंश का ही बहिष्कार करदिया जाय। लेकिन 'नक्कारखाने में तूती की आवाज' कौन सुने ?

सभापति का चुनाव बहुमत से हुआ। यद्यपि वह सहमत न थे पर सब सदस्यों का आग्रह होने से उन्हें आसन स्वीकार करना ही पडा। उपसभापति एक मुसलमान निर्वाचित हुए। इसके पश्चात् मंत्रि-मंडल कायम करना था। शासन-विधान के अनुसार जिस दल की संख्या बहुमत में थी उसी को ही मंत्रि-मंडल नियुक्त करने का भार था, परन्तु प्रजा-मंडल के नेता यह नहीं चाहते थे। उनका विचार था कि आरम्भ मे कुल दलों के सदस्यों में से चुने हुए व्यक्तियों को मंत्रि-मंडल में लिया जावे। अतः उन्होंने सात

रुपया रोजाना से कम मजदूरी न पावे। साहूकारों को आज्ञा दे दी गई कि आठ आना सैकड़ा मासिक से अधिक सूद न लें। ऐसी पाबन्दियाँ होने पर भी प्रजा गरीब से अमीर तक सन्तुष्ट थी। प्रायः यह देखा गया कि मजदूर-दल के किसी व्यक्ति को क्या गरज़ पड़ी कि इसकी छानबीन करे कि हुक्म का मजमून प्रधान मंत्री का है न कि इनका।

क़ानून को इजरा करने से सामाजिक, आर्थिक व नैतिक कुरीतियों का निवारण तब हो सकता है, जब कि प्रजा की इच्छा हो। सामाजिक आन्दोलन से अमुक कुरीति को मिटाया जावे। यदि ऐसा नहीं हो तो क़ानून केवल क़ागज पर ही रह जाता है और पाबन्दी भली प्रकार नहीं कराई जा सकती, चाहे मजबूर ही क्यों न किया जावे। बाल-विवाह निषेध और हरिजनों को पूरे अधिकार (हक़) दिये जाने के लिये कई वर्षों पहले कानून जारी किया जा चुका था, किन्तु उसकी पाबन्दी बहुत कम करते थे। प्रजा-मंडल का मुख्य ध्येय यह था कि जब प्रजा में किसी एक क़ानून को चलावे; तो पहले उसके हेतु आन्दोलन करके प्रजा को तैयार किया जावे और बाद में क़ानून जारी किया जावे। इस कारण से जब कोई क़ानून बनाने की आवश्यकता प्रतीत होती थी पहले ज़िले में सभा करके प्रजा ' का पता लगाते

शिक्षा की कमी को महसूस करके अनिवार्य-शिक्षा का बिल रक्खा गया और वह पास भी हुआ। काश्तकार, मजदूर आदि सब की रुचि होने से शिक्षा का पर्याप्त प्रसार हुआ। यहाँ तक कि सरकार को पैसे की अड़चन पड़ने लगी, किन्तु प्रजा ने इस हेतु सहर्ष स्वीकार किया कि मालगुज़ारी में कुछ इज़ाफ़ा कर दिया जावे।

महाराज के शासन-काल में लगान काफ़ी लिया जाता था, किन्तु प्रजा-मंडल के शासन-काल में नया सैटलमेंट कराया गया और ज़मीन के दर्जे जो ऊँचे दिये गये थे, वे नीचे किए गए। वे भी इस प्रकार कि पहले यह देखा गया कि एक बीघा ज़मीन में जितनी पैदावार होती है, उसका चौथा हिस्सा आँककर मालगुज़ारी रक्खा गया। काश्तकार को ज़मीन पर पूर्ण अधिकार दे दिए गए। सिर्फ़ एक रोक रक्खी गई कि वह गैर काश्तकार को ज़मीन बेच नहीं सकता था। यदि आवश्यकता पड़ने पर उसको किसी से रुपया उधार न मिल सके तो वह सरकार से चार आने की सदी के सूद पर रुपया कर्ज ले सकता था।

भारतवर्ष के काश्तकार प्रायः कर्ज से दबे हुए हैं और यही दशा जौनपुर के काश्तकारों की भी थी। अधिकतर सरकार की ओर से अधिकार मिलने पर वे ही नये अधिकारी दूसरे दलों के विरुद्ध क़ानून इजराय करते हैं। इसी तरह पूँजी-पति-दल के क़ायम होने पर ये ग़रीबों के गलों पर छुरी फेरने के प्रयत्न में रहते हैं और क़ानून द्वारा ऐसी आपत्तियाँ पैदा कर देते हैं कि जिससे ग़रीब, अमीरों के ख़िलाफ़ न जावें। किन्तु प्रथम मन्त्रि-मंडल के काल में कोई ऐसा

सदस्यों में से तीन सदस्य दूसरे दलों के लिये, जिनमें एक मुसलमान और दो अन्य थे। केवल साम्यवादी दल का कोई सदस्य नहीं था क्योंकि उसके नेता सुरेन्द्रसिंह इस योजना से सहमत न थे। उनका विचार था कि जिस दल की संख्या बहुमत में हो, उसी को, मंत्रि-मंडल बिना दूसरे दलों के सदस्य लिये हुए बनाना चाहिये। जैसी कि प्रायः दूसरे देशों में शासन-विधान की पद्धति है। यह सब दलों को प्रसन्न करने की नीति के विरुद्ध था। वह कहता था कि हरएक दल को अपने २ उद्देश्यों पर दृढ़ रहना चाहिए, अन्य नियमों एवं सिद्धान्तों का पालन आवश्यक नहीं। दूसरे दलों के साथ मिल-जुल कर मंत्रि-मंडल स्थापित करने में दूसरे दलों के उद्देश्यों को अपनाना पड़ता है और इस तरह अपनाने से दल-प्रणाली (Party System) सुचारु रूप से कार्य नहीं कर सकती और अन्त में असफलता का सामना करना पड़ता है।

प्रजा-मंडल व दूसरे दलों के सदस्य, राज्य-शासन से अनभिज्ञ थे। उन्हें क्या मालूम कि राज-काज कैसे किया जाता है? जब तक उनके पास अधिकार नहीं थे तब तक वे जौनपुर-सरकार के कारनामे समाचार-पत्रों में देते और समय २ पर कड़ी आलोचना करते थे। कभी २ यह भी प्रकाशित कराते थे कि हमें अधिकार मिलने पर देश की दरिद्रता-निवारण का पूरा २ प्रयत्न किया जायगा। उन्हें क्या मालूम कि राज्याधिकार मिलने पर लोहे के चने चबाने पड़ेंगे।

अस्तु, प्रधान-मंत्री बनाने का प्रश्न बड़ा जटिल था। राज्य-शासन का अनुभव केवल मानिकचन्द को ...

र इसका बड़ा अहसान भी था, क्योंकि सब समझते थे कि इसी की बदौलत उन्हें शासन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। इसके अलावा वह पैसे वाला भी था, उसकी सम्पत्ति कोई कम न थी और राजा का बचा हुआ कुल ज़र-ज़ेवर भी इसी के घर पहुँच चुका था। इसका चातुर्य्य भी कम दर्जे का न था। इन्हीं सब कारणों से प्रधान-मंत्री भी यही बनाया गया।

मंत्रि-मंडल के निर्माण के बाद राज-काज शुरू हुआ। यह मानना पड़ेगा कि जिस ख़ूबी से राज्य-शासन चलाना शुरू हुआ, उसको देखनेवाले कहने लगे कि सचमुच वह एक आदर्श शासन है। जिसमें छोटे से लेकर बड़े को निष्पक्षभाव से न्याय मिलने लगा है। लोगों ने महाराज के काल में जो आपत्तियाँ उठाई थीं, उन्हें वे भूल गये और स्वर्गीय महाराज के 'राम-राज्य' की झलक दिखाई देने लगी। अलबत्ता, उस समय एक व्यक्ति पर ही राज्य का भार था और अब सात मंत्रियों पर। गँवार लोग तो यों कहने लगे कि 'पंच-परमेश्वर' का राज्य है। काश्तकारों ने, जिन्होंने, प्रजा-मंडल की ओर मत देने में उपेक्षा की थी वे भी कुछ समय में मानने लगे कि उन्होंने वोट न देने में बड़ी भारी भूल की।

दो वर्ष के समय में ही धारा-सभा द्वारा कई एक ऐसे कानून बना दिये गये थे जिनमें सर्वहित निहित था। काश्तकारों को साहूकारों से बचाया गया, लेकिन व्यापारी-दल को कोई हानि नहीं पहुँचाई गई। मज़दूरों की मज़दूरी कानून के द्वारा दुगुनी कर दी गई। यहाँ तक कि ऐसा क़ानून निकाला जिससे कोई व्यक्ति

सदस्यों में से तीन सदस्य दूसरे दलों के लिये, जिनमें एक मुसलमान और दो अन्य थे। केवल साम्यवादी दल का कोई सदस्य नहीं था, क्योंकि उसके नेता सुरेन्द्रसिंह इस योजना से सहमत न थे। उनका विचार था कि जिस दल की संख्या बहुमत में हो, उसी को, मंत्रि-मंडल बिना दूसरे दलों के सदस्य लिये हुए बनाना चाहिये। जैसी कि प्रायः दूसरे देशों में शासन-विधान की पद्धति है। वह सब दलों को प्रसन्न करने की नीति के विरुद्ध था। वह कहता था कि हरएक दल को अपने २ उद्देश्यों पर दृढ़ रहना चाहिए, अन्य नियमों एवं सिद्धान्तों का पालन आवश्यक नहीं। दूसरे दलों के साथ मिल-जुल कर मंत्रि-मंडल स्थापित करने में दूसरे दलों के उद्देश्यों को अपनाना पड़ता है और इस तरह अपनाने में दल-प्रणाली (Party System) सुचारु रूप से कार्य नहीं कर सकती और अन्त में असफलता का सामना करना पड़ता है।

प्रजा-मंडल व दूसरे दलों के सदस्य राज्य-शासन से अनभिज्ञ थे। उन्हें क्या मालूम कि राज-काज कैसे किया जाता है ? जब तक उनके पास अधिकार नहीं थे तब तक वे जौनपुर-सरकार के कारनामे समाचार-पत्रों में देते और समय २ पर कड़ी आलोचना करते थे। कभी २ यह भी प्रकाशित कराते थे कि हमे अधिकार मिलने पर देश की दरिद्रता-निवारण का पूरा २ प्रयत्न किया जायगा। उन्हें क्या मालूम कि राज्याधिकार मिलने पर लोहे के चने चबाने पड़ेंगे।

अस्तु, प्रधान-मंत्री बनाने का प्रश्न बड़ा जटिल था। राज्य-शासन का अनुभव केवल मानिकचन्द को था। फिर प्रजा-मंडल

शिक्षा की कमी को महसूस करके अनिवार्य-शिक्षा का बिल
ा गया और वह पास भी हुआ। काश्तकार, मजदूर आदि
की रुचि होने से शिक्षा का पर्याप्त प्रसार हुआ। यहाँ तक कि
ार को पैसे की अड़चन पड़ने लगी, किन्तु प्रजा ने इस हेतु
स्वीकार किया कि मालगुजारी में कुछ इजाफा कर दिया जावे।
महाराज के शासन-काल में लगान काफी लिया जाता था,
तु प्रजा-मंडल के शासन-काल में नया सैटलमेंट कराया गया और
न के दर्जे जो ऊँचे दिये गये थे, वे नीचे किए गए। वे भी इस
र कि पहले यह देखा गया कि एक बीघा जमीन में जितनी
वार होती है, उसका चौथा हिस्सा आँककर मालगुजारी रक्खा
। काश्तकार को जमीन पर पूर्ण अधिकार दे दिए गए। सिर्फ
रोक रक्खी गई कि वह ग़ैर काश्तकार को जमीन बेच नहीं
कता था। यदि आवश्यकता पड़ने पर उसको किसी से रुपया
ार न मिल सके तो वह सरकार से चार आने की सदी के सूद
रुपया क़र्ज़ ले सकता था।

भारतवर्ष के काश्तकार प्रायः क़र्ज़ से दबे हुए हैं और यही दशा
नपुर के काश्तकारों की भी थी। अधिकतर सरकार की ओर
अधिकार मिलने पर वे ही नये अधिकारी दूसरे दलों के विरुद्ध
ानून इजराय करते हैं। इसी तरह पूँजी-पति-दल के क़ायम होने
र वे ग़रीबों के गलों पर छुरी फेरने के प्रयत्न में रहते हैं और क़ानून
ारा ऐसी आपत्तियाँ पैदा कर देते हैं कि जिससे ग़रीब, अमीरों के
ाथ न जावें। किन्तु प्रथम मंत्रि-मंडल के काल में कोई ऐसा

रुपया रोज़ाना से कम मज़दूरी न पावे। साहूकारों को आज्ञा दे दी गई कि आठ आना सैकड़ा मासिक से अधिक सूद न लें। ऐसी पाबन्दियाँ होने पर भी प्रजा ग़रीब से अमीर तक सन्तुष्ट थी। प्रायः यह देखा गया कि मज़दूर-दल के किसी व्यक्ति को क्या ग़रज़ पड़ी कि इसकी छानबीन करे कि हुक्म का मज़मून प्रधान मंत्री का है न कि इनका।

क़ानून को इजरा करने से सामाजिक, आर्थिक व नैतिक कुरीतियों का निवारण तब हो सकता है, जब कि प्रजा की इच्छा हो। सामाजिक आन्दोलन से अमुक कुरीति को मिटाया जावे। यदि ऐसा नहीं हो तो क़ानून केवल काग़ज़ पर ही रह जाता है और पाबन्दी भली प्रकार नहीं कराई जा सकती, चाहे मजबूर ही क्यों न किया जावे। बाल-विवाह निषेध और हरिजनों को पूरे अधिकार (हक़) दिये जाने के लिये कई वर्षों पहले क़ानून जारी किया जा चुका था, किन्तु उसकी पाबन्दी बहुत कम करते थे। प्रजा-मंडल का मुख्य ध्येय यह था कि जब प्रजा में किसी एक क़ानून को चलावें; तो पहले उसके हेतु आन्दोलन करके प्रजा को तैयार किया जावे और बाद में क़ानून जारी किया जावे। इस कारण से जब कोई क़ानून बनाने की आवश्यकता प्रतीत होती तो पहले हरएक ज़िले में सभा करके प्रजा की इच्छा का पता लगाते। इसका परिणाम यह होता कि हरएक कानून की पाबन्दी मन से की जाती थी। यदि प्रजा की राय किसी क़ानूनी प्रस्ताव के विरुद्ध होती तो उसे बिल (Bill) के रूप में धारा-सभा में नहीं लाया जाता था।

शिक्षा की कमी को महसूस करके अनिवार्य-शिक्षा का बिल रक्खा गया और वह पास भी हुआ। काश्तकार, मज़दूर आदि सब की रुचि होने से शिक्षा का पर्याप्त प्रसार हुआ। यहाँ तक कि सरकार को पैसे की अड़चन पड़ने लगी, किन्तु प्रजा ने इस हेतु सहर्ष स्वीकार किया कि मालगुज़ारी में कुछ इज़ाफा कर दिया जावे।

महाराज के शासन-काल में लगान काफी लिया जाता था, किन्तु प्रजा-मंडल के शासन-काल में नया सैटलमेंट कराया गया और ज़मीन के दर्जे जो ऊँचे दिये गये थे, वे नीचे किए गए। वे भी इस प्रकार कि पहले यह देखा गया कि एक बीघा ज़मीन में जितनी पैदावार होती है, उसका चौथा हिस्सा आँककर मालगुज़ारी रक्खा गया। काश्तकार को ज़मीन पर पूर्ण अधिकार दे दिए गए। सिर्फ एक रोक रक्खी गई कि वह ग़ैर काश्तकार को ज़मीन बेच नहीं सकता था। यदि आवश्यकता पड़ने पर उसको किसी से रुपया उधार न मिल सके तो वह सरकार से चार आने फी सदी के सूद पर रुपया कर्ज़ ले सकता था।

भारतवर्ष के काश्तकार प्रायः कर्ज़ से दबे हुए हैं और यही दशा जौनपुर के काश्तकारों की भी थी। अधिकतर सरकार की ओर से अधिकार मिलने पर वे ही नये अधिकारी दूसरे दलों के विरुद्ध कानून इजराय करते हैं। इसी तरह पूँजी-पति-दल के कायम होने पर वे ग़रीबों के गलों पर छुरी फेरने के प्रयत्न में रहते हैं और क़ानून द्वारा ऐसी आपत्तियाँ पैदा कर देते हैं कि जिससे ग़रीब, अमीरों के ख़िलाफ न जावें। किन्तु प्रथम मंत्रि-मंडल के काल में कोई ऐसा

क़ानून नहीं बनाया गया और प्रजा चैन की बंशी बजाते हुए सुख की नींद लेने लगी। यहाँ तक कि 'शेर और बकरी एक घाट पानी पीने' की कहावत चरितार्थ होने लगी।

राज्य के भिन्न-भिन्न विभागों पर नये नये अफ़सर नियुक्त किये गये। महाराज के कृपापात्रों (पुराने नौकरों) को नौकरी से अलग कर दिया गया और उनकी जगह पर प्रजा-मंडल के अनुयायियों का भरना शुरू हुआ। प्रधान-मंत्री यह विचार अवश्य रखता था कि ऑफ़िसर उसके ही पक्षवाले हों। इस बात का कि वे उसके पक्ष वाले हैं या नहीं, वह आसानी से भली प्रकार पता लगा सकता था क्योंकि उसको कई वर्षों का अनुभव था। जितना महाराज दावा करते थे कि वे राज-कर्मचारियों को खूब जानते थे, पर इसके मुकाबले में वे भी परिचित नहीं थे। यह बात मानने में भी आ सकती है, क्योंकि महाराज को सूचना उनके चापलूसों द्वारा ही मिलती थी, जिनमें से एक-दो व्यक्ति ऐसे थे जो वर्त्तमान प्रधान-मंत्री (मानिकचन्द) के गुप्तचर थे। इन्हें पैसा दिया जाता था कि महाराज की कुल खबरें उनके पास लावें और जानबूझ कर महाराज को ग़लत रास्ते पर लगाया जावे। यह इन्हीं लोगों का कारनामा था कि महाराज जैसे होशियार व्यक्ति को भी चापलूसों की कठपुतली बना दिया गया। यहाँ तक कि महाराज के कानों में प्रजा की दुःखभरी आवाज़ तक नहीं पहुँच पाती थी, बल्कि समय मिलने पर यही लोग महाराज से अर्ज करते—"हुज़ूर! स्वर्गीय महाराज की सादगी ने इन लोगों को बिगाड़ डाला, वरना क्या मजाल

है कि हुजूर से मुकाबला करें। इन लोगों पर जूते पड़ेंगे, तब कहीं जाकर ये सीधे होंगे।"

मंत्रि-मंडल के छः दूसरे मंत्रियों का कार्य साधारण था, क्योंकि न तो उन्होंने ऊंची शिक्षा ही पाई थी और न उनको अनुभव ही था, जिससे शासन करने का ज्ञान होता। इसके अतिरिक्त न उनके बाप-दादों ने कोई राज्य-कार्य किया था ताकि उनके अनुभव सुनने-सुनाने से उनको कोई शिक्षा मिलती। ये सब तो थे बराये नाम और राज्य-शासन वास्तविक रूप से करता था प्रधान-मंत्री। मामूली मामलों के लिये भी इन्हें बार २ प्रधान-मंत्री की सलाह लेनी पड़ती थी। यहाँ तक कि हुक्म भी प्रधान-मंत्री लिखवाता और हस्ताक्षर जिस मंत्री का ताल्लुक होता वह स्वयं ही कर देता। ऑफ़िस के बाहर मंत्रियों की प्रशंसा होती कि वे इतने अनपढ़ होते हुए भी कितने अच्छे हुक्म देते हैं और मामलों को कैसा अच्छा समझते हैं। साहूकारों का क़र्ज़ अदा किया गया और ज़मीन जो वर्षों से रहन थी या ग़ैर काश्तकारों के हाथों बिक चुकी थी वह भी लौटा दी गई। इन कारणों से काश्तकारों की दशा पहले से बहुत अच्छी हो गई और दोनो वक्त वे पेटभर भोजन करने लगे।

शिक्षा का अभाव दिनों-दिन कम होने से काश्तकार मृत्यु-भोजन (नुक्ता) शादी आदि में कम रुपये खर्च करने लगे और उन्हें ज्ञान हुआ कि इन भोजों में रुपया खर्च करना व्यर्थ है। जो रोक क़ानून से न हो सकी वह शिक्षा द्वारा सहज ही होने लगी।

प्रजा-मंडल का एक यह भी उद्देश्य था कि पंचायतों के हाथ में राज्य-प्रबन्ध का काफ़ी हिस्सा रहे।

पंचायत-बोर्ड को दीवानी व फ़ौजदारी के अधिकार तो थे ही किन्तु नये पंचायत ऐक्ट से उनके अधिकारों में काफ़ी इज़ाफ़ा कर दिया गया। यहाँ तक कि नैतिक, सामाजिक व आर्थिक प्रश्न जिनका ताल्लुक जिस ग्राम के पंचों का था, उनको हक़ था कि उन समस्याओं को हल करें। पंचों का चुनाव प्रौढ़ मताधिकार (Adult Franchise) के अनुसार होता था जिसमें औरतों को भी मत देने का पूरा अधिकार था। किसी मालदार को सरपंच नहीं बनाया जाता था जैसा कि प्रायः देखने में आता है। इन पंचों के दिलों में सेवा का भाव था और ऐसा प्रतीत होता था कि कांग्रेसवाद का पदार्पण हो गया है, जिसके लिये सन् १८८० से कांग्रेस आन्दोलन कर रही थी।

स्वास्थ्य-विभाग भी बहुत उन्नति करता जा रहा था। प्रत्येक ज़िले में आयुर्वेदिक चिकित्सालय और ऐलोपैथिक अस्पताल व यूनानी दवाख़ाने क़ायम किये गए थे। वैद्य, डाक्टर और हकीम आपस में झगड़ते न थे जैसा कि महाराज के शासन-काल में प्रायः नज़र आता था। सबके हृदय में सेवा का भाव था। जिस स्वर्ण-काल को देखने की सबकी इच्छा थी और जिसके लिए एक दिन कल्पना किया करते थे वह आँखों के सामने था। कहीं भी दफ़्तर के जाल्ते (Red Tape) के कारण देरी न होती थी। जहाँ किसी ने अर्ज़ी दी कि फ़ौरन ही हुक्म होता था। एक अदालत से दूसरी

में भागा-दौड़ी करने की आवश्यकता न थी। नेतागण फूले न समाते थे, यहाँ तक कि हर सभा में इस नये शासन की प्रशंसा भरसक करते थे। आज उनके दिलों में वह कटुता न थी, जो कि महाराज के समय में दिखाई पड़ती थी। प्रजा-मंडल के अतिरिक्त दूसरा दल ऐसा कोई न था जो इसका मुकाबला करता। फिर मन्त्रि-मंडल में प्रत्येक दल के सदस्य मौजूद थे, अतः हरएक दल के नेताओं के मुँह बन्द हो चुके थे। एक सुरेन्द्रसिंह ही था जो हमेशा मार्क्स के उद्देश्यों पर बोला करता था और उसे विश्वास था कि बिना साम्यवाद अपनाये राज्य-शासन भली भाँति नहीं चलाया जा सकता। वह कुल दलों के संयुक्त-मंत्रि-मंडल के पक्ष में न था और न एक ही दल जिसके सदस्यों की संख्या बहुमत से हो, उसके मंत्रि-मंडल क़ायम करने का अनुयायी था। वह तो एक पक्का साम्यवादी था, जिसका ध्येय क्रान्ति था। तब भी सुरेन्द्रसिंह प्रजा-मंडल के नेताओं से प्रेम रखता था और जिस प्रकार शासन-सुचारु रूप से हो रहा था, इसके लिये वह प्रशंसा ही किया करता था। अलबत्ता, वह अपने सिद्धान्तो का बड़ा दृढ़ पक्षपाती था और उन पर उसकी कुल भावनायें केन्द्रित भी थीं।

वारहवाँ परिच्छेद

पूँजीवाद का शासन

प्रथम चुनाव को पाँच वर्ष होने आये हैं। इस अरसे में प्रजा के हित के लिये जो कार्य हुए उनसे सर्व-साधारण का भला ही हुआ। यहाँ तक कि काश्तकार आदि जो आरंभ में विरोधी थे, वे भी प्रजामंडल के अनुयायी वनने लगे। प्रजामंडल के शासन-काल में ऐसी कोई वात नहीं हुई जिसमे जन साधारण ने असन्तोप प्रकट किया हो किन्तु पूँजीपतियों को अवश्य असंतोप था, सो इसलिये कि काश्तकार उनसे ऋण-मुक्त हो गये थे। साहूकारों के सामने वडा भारी प्रश्न था कि अपनी पूँजी कहाँ लगावें फिर कोपरेटिव सोसाइटीज के कारण वे व्यक्तिगत लेन देन भी नहीं कर पाते थे। इधर मजदूर-दल आदि संस्थाएँ स्थापित हो चुकी थीं। अतएव इनकी दाल गलना असंभव था। अव रहा कारखाने खोलना, जिन्हें भी सरकार ने कानूनन अपने हाथ मे ले लिया था। जिससे कोई व्यक्तिगत पैसा नहीं लगा सकता था, फिर शेयर होल्डरों में मुनाफा भी आठ आना सैकडा से अधिक नहीं वाँटा जाता था। यदि मुनाफा ज्यादा भी होता तो या तो वह रिज़र्व पूँजी में जमा किया जाता था अथवा वोनस (Bonus) के रूप मे कारखाने

के मजदूरों को वितरण किया जाता था। रहा सवाल छोटी छोटी पूँजी वालों का, वे लोग केवल मामूली व्यापार कर पाते थे जिससे उनका ठीक तरह से गुजारा नहीं होता था और उन्हें इन्कमटैक्स भी देना पड़ता था। यद्यपि यह अवश्य था कि साहूकार लखपति न हो पाये थे तथापि उन्हें कोई आपत्ति न थी जिससे कि वे प्रजा-मंडल से अप्रसन्न रहें। इतने पर भी इनकी धन जमा करने की तृष्णा न मिट पाती थी और यह उन्हें विशेष अखरता था। यह व्यौपारियों की मनोवृत्ति स्वाभाविक है कि जब उन्होंने प्रजा-मंडल को इतनी आर्थिक सहायता दी तो उन्हें इसका बदला इस शासन काल में भी न मिले तो फिर कब ? उनका खयाल था कि महाराज के गये बाद उन्हीं का राज्य-शासन स्थापित होगा, जिससे उनकी शक्ति दिनों दिन बढ़ती चली जावेगी। एक साहूकार से चुप न रहा गया और वह सेठ घनश्यामलाल के पास गया जो अर्थ-मंत्री थे। मंत्री महाशय से उसकी वार्तालाप इस तरह हुई:—

साहूकार—"सेठ साहब आप तो हमें कहा करते थे कि महाराज के बाहर जाने पर साहूकारों को सब प्रकार की सुविधाएँ मिलेंगी और अपना ही राज्य स्थापित होगा।"

सेठ घनश्यामलाल—"हाँ सेठजी, हमने आश्वासन दिलाया था कि अपना ही राज्य होगा और ऐसा है भी।"

साहूकार—"सो कैसे ?"

सेठजी—"तुम्हें नजर नहीं आता कि महाराज कहाँ राज्य कर रहे हैं। अभी तो अपना ही राज्य है।"

साहूकार—"यह तो ठीक है कि महाराज नहीं हैं परन्तु उनकी जगह प्रजा के चुनिंदा (निर्वाचित) राज्य-शासन कर रहे हैं किन्तु आपको मालूम होना चाहिये कि कुल बड़े-बड़े कारखानों की बाग-डोर सरकार के हाथ में है।"

सेठजी—"सरकार तो तुम्हारी ही है।"

साहूकार—"हाँ, सरकार तो हमारी ही है लेकिन हमें लाभ! आठ आना सैकड़ा से तो हमें अधिक सूद अथवा मुनाफा नहीं मिलता। भला ऐसे कम सूद से कैसे काम चले। यह आपको ध्यान में रहना चाहिये कि महाराज के राज्य-काल में आपके पिताजी और हम दो-दो रुपया सैकड़ा से कम सूद नहीं लिया करते थे।"

सेठजी—"हाँ, उस समय ऐसा होता था किन्तु अब कानून ऐसे इजरा किये जा चुके हैं जिनसे वैसा करना सम्भव नहीं है।"

साहूकार—"कानून बनाने वाले तो आप ही हैं फिर ऐसा क्यों कहते हैं?"

सेठजी—"भाई, आप सच कहते हैं लेकिन आप जानते हैं कि प्रजा-मंडल के नेता जो कांग्रेस-मत वाले हैं, वे काश्तकारों को ऋण-मुक्त करना चाहते हैं और उनके विचारों से आप भली-भाँति परिचित ही हैं कि वे हमेशा गरीबों के पक्षपाती हैं।"

साहूकार—"यह तो मैं सब अच्छी तरह जानता हूँ। मेरा आप से यह कहना है कि आप स्वयं समझदार हैं, इसमें आप और हम सब को हानि है। अतः आप कोई रास्ता निकालें जिससे हमारा

मतलब धन सके वरना हम छोटी छोटी पूँजी वाले साहूकार प्रजा-मंडल से अलग हो जावेंगे और चुनाव के समय मत नहीं देंगे।

सेठजी—"हाँ, बात तो तुमने मेरे मन की ही कही। मेरे विचार से मैं प्रधान-मंत्री को, जो कि अपने में से ही हैं, जाकर कहूँ और उनके न मानने पर धमकी दूँ कि नया चुनाव जो तीन माह में होगा उस समय कुल साहूकार अपने मत प्रजा-मंडल को नहीं देंगे।"

साहूकार—"यदि आप ऐसा कहेंगे तो वे उपरोक्त विचारों से अवश्य सहमत होंगे, क्योंकि वे बड़े बुद्धिमान् हैं, और उन्होंने सब प्रकार का शासन देखा है।"

सेठ घनश्यामलाल इस वार्तालाप से बड़े उत्तेजित हो रहे थे। वे हर मसले पर विचार करने लगे और हमेशा ही सोचा करते कि किस तरह साहूकारों की सत्ता बढ़े। किन्तु यह उनकी शक्ति के बाहर था कि वे कोई नया विचार रखते, उपाय निकालते अथवा सुझाव सुझाते, जिससे उनकी जाति का काम बनता। केवल प्रधान-मंत्री ही थे जो किसी तरह का षड़यंत्र रचकर सफलता प्राप्त करने में समर्थ थे। इन सेठजी की एक दिन प्रधान-मंत्री से बात-चीत हुई और इनको बड़ी प्रसन्नता हुई जब कि प्रधान-मंत्री ने कहा कि 'वह इनके विचारों से सहमत है। इसके अतिरिक्त प्रधान-मंत्री का सुझाव भी इन सेठजी को बड़ा पसन्द आया। वह यह था कि 'प्रजा-मंडल के चुनाव के निर्णय के लिये जो बोर्ड स्थापित किया है, उसके तीन सदस्य हैं, उन में दो तो वे स्वयं ही हैं और तीसरे ऐसे व्यक्ति हैं जो पैसे से खरीदे जा सकते हैं। यद्यपि

तीसरा सदस्य एक कट्टर कांग्रेस मत का था तथापि उसको जब पैसे का लालच दिया गया तो उसने झट से उन सदस्यों के नाम, जिनको चुनाव में प्रधान-मंत्री खड़ा करना चाहता था, अपना मत दिया।

प्रत्येक सूबे से जो प्रजा-मंडल के सदस्य चुनाव में खड़े होना चाहते थे, उनकी सूची इस बोर्ड के पास निर्णय के लिये भेजी गई ताकि इस बोर्ड के मत के विरुद्ध दूसरा सदस्य खड़ा न हो। प्रधान-मंत्री के प्रभाव के कारण हरएक सूबे से वही नाम दिये गये जिनको वे चाहते थे। इस षड्यंत्र का पता श्रीकान्त को क़तई न लगा। फिर ऐसा विचार उनके दिल में भी क्यों पैदा होने लगा। जो धारा-सभा के सदस्य थे उनमें से चन्द के नाम नये चुनाव के लिये नहीं रक्खे गये तो उन्हें अखरा अवश्य परन्तु किसके पास जाकर पुकारते और यदि ऐसा करते भी तो उनकी सुनता कौन तथा ऐसी बात कब चलती और कौन मानता। फिर चुनाव दिवस का समय भी पन्द्रह दिन उपरान्त ही था अस्तु; यदि वे चाहते तब भी दूसरी पार्टी के द्वारा खड़े होने के लिये समय चाहिये था। प्रजा-मंडल के जिन व्यक्तियों के नाम दूसरे चुनाव में न थे, वे ऐसे थे, जिनके पास पैसा न था। पहले तो प्रजा-मंडल के फंड से उनको चुनाव के ख़र्चे की सहायता दी गई थी; अब कौन दूसरा दल इतना दे सकता था और न साहूकार ही देने को तैयार थे।

प्रधान-मंत्री ने यह चतुराई अवश्य की कि प्रजा-मंडल के जो मुख्य नेता थे उनको खड़ा होने दिया परन्तु इनके सिवाय दूसरे कुल सदस्य पूँजीपतियों के अनुयायी थे या स्वयं थे।

पूँजीवाद केवल पूँजीपतियों के आधार पर खड़ा नहीं किया जा सकता। किन्तु प्रजा-मंडल के साथ रहने से इनके कुछ मनुष्यों के हाथ में सम्पत्ति व अधिकार अवश्य आ गये थे। परन्तु प्रजा-शासन से इनके हाथ मे जमीन काश्तकारों के हाथ में फिर से चली गई थी और एक मुख्य संख्या जो जागीरदारों की थी उसका सहयोग मिलना आवश्यक था। इन जागीरदारों की स्थिति वैसी नहीं रही जैसी पहले थी। सबसे पहले तो महाराज ने इनको पूरे तौर से कुचल डाला और इनको शक्ति-हीन बना दिया, फिर प्रजा-शासन ने प्रायः इनको नाम का ही जागीरदार रख दिया। इनके पास पैसा भी न रहा किन्तु जागीर-प्रथा चल रही थी। प्रधान-मंत्री ने इनमें से एक समझदार व चालाक व्यक्ति को बुलाया और वे उससे कहने लगे कि—"ठाकुर साहब आपकी स्थिति दिन-बदिन गिर रही है, और समय ऐसा आने वाला है कि जब आपकी बची हुई जागीरें भी हाथ से छीन ली जावेंगी अतः आपने इस विषय पर कभी कुछ सोचा विचारा भी है ?"

ठाकुर ने साँस भरकर कहा—"मंत्रीजी ! जब आप जैसे व्यक्ति, जिनके सहारे महाराज राज्य चलाते थे, प्रजा-मंडल के अनुयायी बन गये हैं, तो हमारा क्या बस चले ?"

प्रधान-मंत्री—"ठाकुर साहब ! मनुष्य सोचता है कि वह स्वतंत्र है लेकिन यह असत्य है। वह तो केवल वही करता है जो समय उससे मजबूरी से कराता है। समाज के विपक्ष में रहकर एक व्यक्ति चाहे कितना ही यशस्वी क्यों न हो, जनता की आवाज़ को दबा

नहीं सकता। अगर वह दबाना ही चाहता है तो जनता को अपनी अनुयायी पहले बना ले,' फिर वह युद्ध भी कर सकता है। आपको स्मरण होगा कि महाराज ने सबसे पहले जागीरदारों को, जो कि राज्य के स्तंभ थे, हर प्रकार कुचला और शक्तिहीन बना दिया। फिर ऐसे क़ानून इजरा किये जिससे साधारण श्रेणी के साहूकारों का सैकड़ों वर्षों का जो कारतकारों से लेना बाक़ी था उसके वापिस लेने को कानूनन रोक कर दी। यह सब पूँजीपतियों एवं जागीरदारों के नेस्तनाबूद (नष्ट-भ्रष्ट) करने को किया गया। केवल कारतकार ही महाराज से प्रसन्न थे। पर आप सोच सकते हैं कि बेचारे कारतकारों की क्या हिम्मत, जो महाराज को क़ायम रख सकें। जिस तरह मनुष्य के हाथ-पैर टूट जाने पर वह अपङ्ग हो जाता है उसी प्रकार महाराज ने भी अपनी दशा बना ली। परिणामस्वरूप उन्हें राज्य से हाथ धोना पड़ा।"

ठाकुर साहब—"आपका कहना बिलकुल सत्य है कि महाराज ने अपनी स्वार्थ-परायणता के कारण जो कार्य किये उनका फल उन्हीं को भोगना पड़ा है, किन्तु मेरा आपसे यह निवेदन है कि अब तो महाराज का समय नहीं है और सारे राज्य की सत्ता आपही के हाथ में है; अतएव आपको चाहिये कि हम जागीरदारों से सहयोग मिलने के पहले आप अपनी सहानुभूति प्रकट करें। यदि हमारी स्थिति न सुधारी जावेगी तो एक ऐसा समय आने वाला है जब आपका तथा हमारा पता न लगेगा, कारण कि साम्यवाद की लहरें फैल रही हैं और जिस दिन हमारे हाथ में जागीरे न रहेंगी,

उस समय हमें विवश होकर साम्यवाद का अनुयायी होना पड़ेगा। आज आप देखते हैं कि हममें से एक सुरेन्द्रसिंह मजदूर-दल का नेता बना है और वह क्यों बना उसका कारण भी मेरी बात का स्पष्टीकरण करता है और जो आपमे छिपा हुआ नहीं है।"

प्रधान-मंत्री—"ठाकुर साहब ! मैं भली प्रकार सुरेन्द्रसिंह के साम्यवादी हो जाने का कारण जानता हूँ। मेरे विचार से जबकि उसकी जागीर महाराज ने छीन ली थी उस सूरत मे उसके पास एकमात्र यही उपाय था, जो उसने अपनाया।"

ठाकुर साहब—हाँ, आप ठीक कहते हैं लेकिन जो हालत आज हमारी महाराज और प्रजा-मंडल के शासन द्वारा हो गई है, उस स्थिति को यदि आपने नहीं सुधारा तो कोई आश्चर्य नहीं कि हमें भी वही राह पकड़ना पड़े और इसका परिणाम यह होगा कि हम सब जागीरदारों को साम्यवादी बनना पड़ेगा। याद रहे कि जिस दिन हम साम्यवाद को अपनायेंगे वह दिन क्रान्ति का होगा।

प्रधान-मंत्री—"यह कैसे ?"

ठाकुर साहब—"वह इस तरह कि हम क्षत्रिय क्रान्ति के पुजारी हैं। जब हमारे पास जागीरें न रहेंगी तो उस समय हम स्वतंत्र हो जायेंगे और क्रान्ति का झंडा उठाकर समस्त देश मे शान्ति को भंग कर देंगे। आप कांग्रेस के अनुयायी लोग सन् १८५७ से भारत को आज़ाद करने का प्रयत्न कर रहे हैं, लेकिन जो स्वतन्त्रता इतने दिन तक अहिंसा-रूपी हथियार से प्राप्त नहीं हो सकी है, वही केवल-मात्र साधन 'क्रान्ति' द्वारा एक ही दिन में प्राप्त की जा सकती है,

यदि समाज ऐसा करने को उद्यत हो जाय तो। परन्तु क्रान्ति के लिये समाज को दृढ़तापूर्वक तैयार करने की आवश्यकता है।

प्रधान-मंत्री—"ठाकुर साहब ! आपका कहना यथार्थ है लेकिन मेरा विचार है कि यदि आप कुछ जागीरदार मेरा सहयोग देवें तो अवश्य ही हमारी दशा सुधारी जा सकती है। आप जानते हैं कि चुनाव का दिन अनक़रीब है। अतएव आपसे निवेदन है कि अपने राजपूत भाइयों से यह अनुरोध करें कि वे अपने वोट मेरी पार्टी के ही सदस्यों को दें। फिर आप देखिये कि यदि हमारे दल के सदस्य बहुमत से धारा-सभा में चुन लिये जावेंगे तो मैं विश्वास दिलाता हूँ कि आप जागीरदारों की स्थिति भी सुधर जावेगी।"

ठाकुर साहब—"लेकिन आपका दल तो प्रजा-मंडल ही का दल है, भला इससे हमें क्या आशा हो सकती है ?"

प्रधान-मंत्री—"आपको मालूम नहीं है कि इस चुनाव में मैंने प्रजा-मंडल के ऐसे सदस्य चुने हैं कि जिनसे आपको कोई शंका व भय करने की आवश्यकता ही नहीं है।"

ठाकुर साहब—"आपका कहना ठीक है किन्तु मैं यह नहीं समझ पाया हूँ कि प्रजा-मंडल के जो उद्देश्य हैं उनके विरुद्ध आपके विचार क्योंकर रह सकेंगे।"

प्रधान-मंत्री—"आप शासन-विधान से अनभिज्ञ हैं। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि यदि दल को मंत्री-मंडल बनाने का सुअवसर प्राप्त होगा तो उस समय हम शासन-विधान में परिवर्तन कर सकेंगे। क्योंकि हमारे दल के सदस्यों की संख्या दूसरे दलों को अपेक्षा बहु-

मत में होगी, इसलिये जो कानून पहले जारी किये जा चुके हैं उनमें संशोधन किया जा सकता है और जिस क़ानून में हमारा हित है वहीं धारा-सभा में उपस्थित किया जाकर पास करवाया जा सकता है।"

ठाकुर साहब—"मैं तो शासन-विधान की बातें नहीं समझता हूँ किन्तु यदि आप विश्वास दिलाते हैं तो मैं भी आपको वचन देता हूँ कि हमारे वोट आप ही को दिये जावेंगे।"

प्रधान-मंत्री ने ठाकुर को अपनी चतुराई द्वारा अपने पक्ष में बना लिया, यहाँ तक कि उसे पूर्ण विश्वास हो गया कि नये चुनाव में उसके दल के सदस्य अधिक संख्या में चुने जा सकेंगे। उसने मुसलमानों के वोट लेने का प्रयत्न किया किन्तु मुसलमान-लीग के नेता को यह स्वीकार नहीं था कि वे प्रजा-मंडल को वोट देवें। इसका कारण यह था कि मुसलमान ज्यादा तादाद में ग़रीब थे, जिन्हें इस दल से लाभ मिलने की कोई आशा न थी। इसके अतिरिक्त इनका साम्यवाद की ओर झुकाव था। इसलिये प्रधान-मंत्री की दाल न गली।

× × × × ×

इस राज्य में यह दूसरा अवसर है कि धारा-सभा के लिये चुनाव हुआ हो। इसका पहला चुनाव महाराज के बाहर चले जाने बाद हुआ था जिसमें प्रजा-मंडल के सदस्यों की संख्या दूसरे दलों से अधिक थी, इसी कारण से शासन प्रणाली के अनुसार प्रजा-मंडल दल को ही मंत्रि-मंडल बनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस द्वितीय चुनाव में भी प्रजा-मंडल के सदस्यों की संख्या पहले से

अधिक थी लेकिन जागीरदार दल को अपने दल में शरीक करने के हेतु उसके नेता से आश्वासन मिल गया था और इस समय भी भूतपूर्व प्रधान-मंत्री को ही मंत्रि-मंडल बनाने का अवसर प्राप्त हुआ, जिसने अपने मंत्रि-मंडल में दो जागीरदारों को ले लिया।

प्रजा-मंडल के नेतागण, जो प्रधान मंत्री की गुप्त कार्रवाई से परिचित न थे, उनको यह बात अवश्य खटकी कि इस बार जागीरदार-दल को क्यों महत्त्व दिया गया है। उन्हें क्या पता था कि प्रधान मंत्री ने षड्यन्त्र रचकर चुनाव के समय प्रजा-मंडल के द्वारा ऐसे सदस्यों को खड़ा किया है जो प्रधान मंत्री की नीति के पक्ष में थे। वे लोग पूँजीवाद के पक्ष में थे। यही नहीं अपितु कुल पूँजीपति जो प्रजा-मंडल के शासन में भयभीत थे क्योंकि जो कानून प्रजा-मंडल के मंत्रि-मंडल ने पाँच वर्षों में काश्तकारों और मजदूरों के हित में जारी किये थे, उनमें इनका अहित था। यह प्रधान मंत्री ही की हिम्मत थी कि पूँजीवाद को राज्य में फैलने का अवकाश दे।

धारा-सभा में कुल सदस्यों की संख्या में से केवल बारह ऐसे व्यक्ति थे जो प्रधान मंत्री के दल के विपक्षी थे। जिनमें से पाँच तो मुसलमान-दल के थे और पाँच मजदूर-दल के, जिनका नेता सुरेन्द्रसिंह था। बाक़ी के दो श्रीकान्त व रामदास थे जो प्रजा-मंडल के दल की ओर से खड़े हुए थे। लेकिन उनके विचार प्रधान मंत्री के विचारों से भिन्न ही थे अर्थात् ये दोनों सदस्य आदर्शवादी थे। इन दोनों को उस समय जब कि धारा-सभा की पहली बैठक हुई और मंत्रि-मंडल कायम करने का प्रश्न हुआ, तब ज्ञात हुआ कि प्रधान

मंत्री की आन्तरिक भावनाएँ क्या हैं। इस पर जब प्रधान मंत्री ने मंत्रि-मंडल में अमुक व्यक्तियों को लेने का निश्चय अपने दल के सामने प्रकट किया, तब इन्हे बहुत ही दुःख हुआ। वे चुपचाप सहन न कर सके, एक ने तो खुल्लम खुल्ला प्रधान मंत्री से कहा— "मुझे यह कहने में दुःख है कि प्रधान मंत्री ने, जिसको कि हमारे दल ने मंत्रि-मंडल क़ायम करने का अधिकार दिया है, दूसरे दल मे से दो जागीरदारों को, जोकि हमेशा से प्रजा-मंडल के विरुद्ध आवाज उठाते आये हैं, क्यो लिया जाना सोचा है। क्या माननीय प्रधान मंत्री मेरे इस प्रश्न का उत्तर देने की कृपा करेंगे?"

प्रधान मंत्री—"मैं प्रश्नकर्ता महाशय को धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने मेरे विचार जानने के लिये मुझसे यह प्रश्न किया। इसके लिये मेरा उत्तर केवल यह है कि मैं चाहता हूँ. मंत्रि-मंडल में दूसरे दल के सदस्य भी जो कि हमारे विचारो से सहमत हों, शरीक किये जावें। एक ही दल को मंत्रि-मंडल बनाने मे, मैं आपत्ति समझता हूँ। वह यह है कि जो दल हमारे विपक्ष में हैं वे हमेशा इस बात की कोशिश करते हैं कि धारा-सभा द्वारा जो हमारे दल की ओर से प्रस्ताव रक्खा जावे वह बहुमत से पास न हो पावे।

अतएव मेरे विचार में यह उचित है और यह मेरी इच्छा भी है कि अन्य पक्ष वाले जो हमसे सहमत हों उनका सहयोग लिया जावे।"

नेता—"मैं आपके मत को मानने मे असमर्थ हूँ क्योंकि मैं समझता हूँ कि ऐसा करनेसे हमारे दल के उद्देश्यो का भली प्रकार

'पालन न होगा और दूसरे दल मे सम्मिलित होकर मंत्रि-मंडल क़ायम करने का यह परिणाम होगा कि हमारे आदर्श एक ओर कोने में रख दिये जावेंगे और दूसरा दल जो हमारे दल के साथ काम करने को उतारू है उसके विचार अवश्य ही हमको किसी अंश में मानने पड़ेंगे।"

प्रधान मंत्री—"यदि आपकी इच्छा है कि जागीरदार दल में से किसी को भी मंत्रि-मंडल में न लिया जावे तो इस प्रश्न का उत्तर अपना दल जोकि धारा-सभा में है और जिसके सदस्यो की यह सभा हो रही है, उसके निर्णय के लिये रख दिया जावे।"

श्रीकान्त को अभी तक पूरा पता न लगा था कि वास्तव में वह स्वयं दल का नेता न रहकर केवल मंत्री ही रह गया है। क्योंकि जब वोट लिये गये तो उसे केवल दो वोट मिले, जिनमें से एक स्वयं वह था। उसका वोट जागीरदार दल को मंत्रि-मंडल में स्थान दिये जाने के खिलाफ़ था, वरना शेष जो सदस्य उपस्थित थे वे एक स्वर से प्रधानमंत्री के ही मत के पक्ष में थे। अतः नेता को चुप रहना पड़ा। यद्यपि उसके दिल मे यह निर्णय बहुत चुभा, तथापि वह प्रजा-मंडल के विधान के प्रतिकूल आवाज़ उठाने के पक्ष में न था। उसका यह विचार उचित भी था, क्योंकि हरएक पक्ष का निर्णय बहुमत पर ही छोड़ा जाता है और जिसका पालन करना केवल नियमों का पालन ही नहीं अपितु कर्त्तव्य-सा होता है, जिसको आदर्शवादी शान्ति से सहन करने ही में अपना धर्म समझते हैं। यदि किसी को किसी निर्णय से संतोष नहीं है और वह सहन नहीं

कर सकता तो उस सूरत में उसके सामने एक और रास्ता है कि वह उस दल से ही पृथक् हो जावे।

'कुछ ही समय में मंत्रि-मंडल के प्रधान ने उन क़ानूनों को धारा-सभा में पेश किया जो भूतपूर्व मंत्रि-मंडल ने इन्हीं के नेतृत्व में काश्तकार एवं मजदूरों के हित में पास किये थे। शासन-विधान के नियमानुसार ये क़ानून धारा-सभा द्वारा पास हुए, किन्तु इनके पास होने से काश्तकारों व मजदूरों में हलचल मच गई थी और सुरेन्द्रसिंह ने मजदूर-दल की ओर से धारा-सभा में अपने विचार प्रकट करते हुए यहाँ तक कह डाला कि कांग्रेसवाद अस्त हो चुका है। आज हम क्या देखते हैं कि प्रधानमंत्री एवं उसका मंत्रि-मंडल तथा प्रजा-मंडल का दल अपने आदर्शों को छोड़ चुका है और वह पूँजीवाद के पक्ष में झुकता जा रहा है। इसे देखकर हमें अचम्भा ही नहीं होता, बल्कि काफी दुःख भी हो रहा है क्योंकि प्रजा-मंडल के उद्देश्यों पर खड़े होकर जो चुने गये थे वही महानुभाव आज पूँजीपतियों के गुलाम होने जा रहे हैं।'

इसी प्रकार मुस्लिम-लीग के नेता ने भी भला-बुरा कहा, लेकिन सुनने वाला कौन था और जब कि प्रधानमंत्री का ध्येय ही यह था कि शासन पूँजीपतियों के हाथ में रहे, उनके विपरीत क़ानून जारी न किये जायँ, किन्तु ऐसे क़ानून प्रचलित किये जावें जिनसे पूँजीपतियों का हित हो। तो फिर आवश्यकता ही क्या थी कि दूसरे के विचारों को माना जावे।

इस मंत्रि-मंडल को स्थापित हुए लगभग तीन वर्ष होते हैं। इस

के द्वारा जो कार्य किया गया उससे कम से कम पूँजीपतियों को तो अवश्य लाभ हुआ और उनका कारोबार फिर से अच्छी तरह चलने लगा। अब वे आठ आने की जगह एक रुपया सैकड़ा सूद कृषकों से लेने लगे, यहाँ तक कि उन्होंने काश्तकारों से जमीन अपने नाम पर बिकाव तक करना प्रारंभ किया।

मजदूरों की दशा भी पहले जैसी न रही थी, क्योंकि मंत्रि-मंडल ने इस बहाने से कि जो सरकारी कारखाने चल रहे थे, उनसे मुनाफे की जगह अधिक खर्च होता है अतः उन्हें वापिस शेयर-होल्डर्स के हाथों में दे दिये। पहले मजदूर प्रतिदिन आठ घंटे कारखाने में काम करते थे किन्तु जब से इन पूँजीपतियों के शासन से पाला पड़ा तब से उन्हें बारह घंटे प्रतिदिन कार्य करने को विवश किया गया। ऐसी हालत में मजदूर दल के नेता ने इसका घोर विरोध किया और मजदूरों को काम बन्द करने की सलाह दी। अतः उन्होंने अपने नेता की आज्ञा का पालन करते हुए कारखानों में जाना बन्द किया लेकिन जब उनके नेता सुरेन्द्रसिंह को जेल में नजरबन्द किया गया तब सब मजदूर हताश होकर काम करने को बतारू हो गये। किसी एक कारखाने के मजदूरों ने हड़ताल कर दी। इस पर उन्हें पुलिस द्वारा पिटवाया गया और उनके दल के चुनिंदा-चुनिंदा लोगों को जेल में ठूँस दिया गया। भला, मजदूर ही तो ठहरे, यदि तीन-चार दिन काम पर न जावें तो अपना और बाल-बच्चों आदि का पेट कैसे भर पाते?

जागीरदारों के सहयोग से पूँजीपति इतने प्रभावशाली बन गये

कि काश्तकारों और मजदूरों का उनके विरुद्ध आवाज उठाना तो दूर रहा, इतना आतङ्क छा गया कि उनकी तरफ़ जो रक़म साहूकारों की क़ानून बन जाने से बाक़ी रह गई थी फिर से वसूल की जाने लगी और जागीरदार भी अपने काश्तकारों को जमीन से बेदखल करने में लग गये। सारांश यह कि जिधर देखो उधर ही पूँजीपतियों की सत्ता बढ़ती जा रही थी यहाँ तक कि समाचार-पत्र भी, जो पहले इनके काले कारनामे छापा करते थे वे भी अब इनकी प्रशंसा एवं स्तुति करने लग गये।

इस काल-चक्र का प्रभाव ही कुछ ऐसा पड़ा कि जिससे मानव-जाति के मन में पूँजी की ओर श्रद्धा बढ़ने लगी और धर्म की दिन-दिन क्षति होने लगी। जन साधारण की अभिरुचि भी पैसा कमाने की ओर बढ़ चली और ऐसा करने में यदि विश्वासघात भी किया जाता तो वह दोषयुक्त न माना जाने लगा। मायारूपी लक्ष्मी का सब ओर पदार्पण प्रतीत होने लगा। किन्तु एक बात अवश्य दिखाई देती थी वह यह कि मालदारों एवं जागीरदारों के मन में शान्ति न थी और निर्धन जनों के दिलों में इस शासन की ओर घृणा उत्पन्न होती जा रही थी। ईर्ष्या करने में तो वे असमर्थ थे क्योंकि वे पूँजीपतियों का मुक़ाबला ही किस तरह कर पाते। अतएव उनके मन में एक विचार पैदा होने लगा कि कहीं ईश्वर है भी कि नहीं?

तेरहवाँ परिच्छेद

डिक्टेटर-शिप

श्रावण मास बीत चुका है किन्तु वर्षा अभी तक केवल पाँच इन्च के लगभग हुई है। काश्तकारों ने जो बीज आषाढ़ मास में बोया था, वह वर्षा के अभाव से उगने के पश्चात् वापिस जलना शुरू हो गया। अतः उन लोगों में बड़ी हलचल मच रही है। वृद्धजन, जिन्होंने विक्रमीय संवत् १९५६ का दुष्काल देखा है, आशंका कर रहे हैं कि कहीं इस वर्ष भी उसी प्रकार अकाल न हो।

राज्य की ओर से इस दिशा में अभी तक कोई प्रबन्ध नहीं हो पाया है, अकाल का प्रश्न मंत्रि-मंडल के सामने एक बड़ी समस्या के रूप में पैदा हो गया है और सोचा जा रहा है कि काश्तकारों की सहायता के लिये क्या २ साधन धारा-सभा के सामने उपस्थित किये जावें। महाराज के चले जाने के अनन्तर राज्य-कोष में कोई रकम जमा नहीं की गई थी क्योंकि प्रथम तो मंत्रि-मंडल ने राज्य की आमदनी बढ़ाने के हेतु व्यय किया था। यही नहीं किन्तु जो पुनर्निर्माण (Reconstruction) के लिये ऋण लिया गया था वह भी अब तक नहीं चुक पाया था और इतने में यह अकाल की संभावना पैदा हो गई। प्रधानमन्त्री ने काश्तकारों की मदद के लिये दूसरी बार ऋण लेने का प्रस्ताव धारा-सभा के सामने रक्खा

लेकिन उसका विरोध श्रीकान्त और रामदास ने किया जो प्रधान-मंत्री के विचारों से सहमत न थे और यहाँ तक कहा गया कि—"प्रधान-मंत्री को राज्य-शासन करते ९ वर्ष से भी अधिक हो गए हैं किन्तु राज्य की आर्थिक स्थिति सुधारने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है और जो शोचनीय दशा हो गई है उसका उत्तरदायित्व प्रधानमंत्री ही का है। राज के बजट में अकाल-फंड को न रखने की जो भारी भूल हुई है उसके लिये भी वही (प्रधान-मंत्री) दोषी है। आज राज-भंडार में एक पाई भी नहीं है और हमारे लिए इस अकाल के समय मे सारी प्रजा की रक्षा करना नितान्त आवश्यक है। यद्यपि बिना कर्ज लिये हम इस दुर्भिक्ष के समय जनता को भूख से नहीं बचा सकते तथापि मेरा यह कहना आवश्यक है कि, इस संकट-काल के पश्चात् हमें भविष्य मे यदि अकाल पड़े तो उसके निमित्त अभी से कोई फंड कायम कर लेना चाहिये।"

प्रधान-मंत्री के प्रस्ताव से यद्यपि सात व्यक्तियों का विरोध रहा लेकिन ऋण लेने का प्रस्ताव बहुमत से पास हुआ और राज्य ने जनता से ऋण लेने की माँग की। पूँजीपतियों के अतिरिक्त किसके पास पैसा था जो राज्य को देता। पचास लाख का ऋण जो लिया जा रहा था उसमे पूँजीपतियों ने अपना पैसा एक ही दिन में जमा करा दिया। इस ऋण की अदायगी में यह अनोखी शर्त रक्खी गई कि—"यदि इस ऋण का भुगतान सरकार की ओर से दस वर्ष में न हुआ तो जितनी रकम ऋण की बचेगी उसकी अदायगी की एवज राज्य के कृषि विभाग फार्म्स (Agricultural farms)

तथा हाइड्रो ऐलैक्ट्रिक पावर-हाउस (Hydro-Electric Power-House) जो सरकार ने अपने हाथ में ले लिये थे उनका संचालन वापस लिमिटेड कम्पनी को सौंप दिया जावे।" नतीजा यह हुआ कि पूँजीपतियों को सरकार के क़र्ज़े की अदायगी में बड़े बड़े कारखाने वापस दे दिये गये। जिससे उन्हें पुनः लाभ उठाने का एक अति उत्तम साधन मिल गया। निस्संदेह यह सारी कार्यवाई प्रधान-मंत्री की थी।

नये चुनाव के लगभग छः महीने शेष हैं; प्रधान-मंत्री को अभी से भय होने लगा है कि कहीं उसके दल को नये चुनाव में हार न खानी पड़े। वह बड़े असमंजस में पड़ गया और विचार करने लगा कि कोई ऐसा उपाय किया जावे कि जिससे धारा-सभा का चुनाव स्थगित रहे। अस्तु; उसके दिमाग़ में एक ही उपाय सूझा जो यह था कि—"धारा-सभा के एक्ट की दफ़ा १५ के अनुसार उसकी अवधि एक वर्ष के लिये और बढ़ाई जा सकती थी।"

अतएव प्रधान-मंत्री ने धारा-सभा की मियाद बढ़ाने के हेतु प्रस्ताव उपस्थित किया और अपने भाषण में यह बताया कि—"जौनपुर-राज्य में जो अकाल के कारण भयंकर स्थिति हो आई है, उसकी ओर मैं आप महानुभावों का ध्यान आकर्षित कराना चाहता हूँ और साथ ही साथ यह भी निवेदन करना मेरा मुख्य कर्त्तव्य है कि इस समय यदि धारा-सभा का चुनाव किया जावेगा तो उसका परिणाम यह होगा कि हम सब का आकर्षण चुनाव की ओर होगा, जिससे अकाल के कार्य में बाधा होगी और जो अकाल-

पीड़ितों की सहायता का कार्य हो रहा है, वह सुचारु रूप से न होगा। इसके अतिरिक्त इस समय चुनाव के लिये जो धन हम व्यय करेंगे वह मेरे विचार से अनावश्यक है। अस्तु, मेरा नम्र निवेदन है कि आप सब इस (चुनाव को स्थगित रखने के) प्रस्ताव को सर्व-सम्मति से पास करें।"

इस प्रस्ताव का विरोध श्रीकान्त और रामदास ने बड़े कड़े शब्दों में किया और आवेश में यह कह गए कि—"हम इस प्रस्ताव का घार विरोध करते हैं, हमें भली प्रकार मालूम हो गया है कि इस प्रस्ताव के पास कराने में प्रधान-मंत्री की मंशा क्या है। मंत्री महोदय यह जानते हैं कि उनके काले कारनामो के कारण वे आइन्दा चुनाव में सफलता प्राप्त न कर सकेंगे। अतएव धारा-सभा की दफ़ा १५ की ओट में वह हमारी शिकार खेलना चाहते हैं। यही नहीं, उनका अभिप्राय, यदि मुझे क्षमा किया जाए तो, मैं कहूँगा कि उन्होंने इस प्रयोजन से यह प्रस्ताव पेश किया है कि वे अपनी डिक्टेटर-शिप क़ायम रखना चाहते हैं। मैं उनका ध्यान इस ओर दिलाना चाहता हूँ कि क्या उनको अवगत नहीं है कि भिन्नभिन्न राष्ट्रों में तानाशाहों की क्या गति हुई है? यही नहीं किन्तु कई एक डिक्टेटरों की जीवनियों के स्वाध्याय से मैं कहता हूँ कि समाज को अपने षडयंत्र से कुछ समय के लिये अपने साथ रक्खा जा सकता है और उसके स्वतंत्र विचारों पर भी कुठाराघात हो सकता है, किन्तु हर समय के लिये ऐसा नहीं किया जा सकता। उसके लिये हमारे सामने कई एक उदाहरण विश्व के इतिहास देखने से आते

हैं। मैं जानता हूँ कि इस धारा-सभा में प्रधान-मन्त्री के विचारों की ओर इस सभा के सदस्य अधिक संख्या में आकर्षित हैं लेकिन मैं मन्त्रि-मण्डल को चेतावनी देना चाहता हूँ कि यदि ऐसा प्रस्ताव पास किया जावेगा तो हमारे राज्य में इस प्रस्ताव के पास होने से क्रान्ति की हलचल मच जावेगी।"

प्रधान-मंत्री इस विरोध से डरने वाला न था। उसने इस प्रस्ताव को सभा के सामने पेश कर सभापति से इस पर वोट लेने की प्रार्थना की। होने वाला वही था जो प्रधान मंत्री चाहता था। इस प्रस्ताव के विरोध में केवल सात वोट दिये गये और प्रस्ताव बहुमत से धारा-सभा द्वारा स्वीकृत हुआ।

श्रीकान्त, जिसने कि इस प्रस्ताव का विरोध किया, चुप न रहा। एक समय किसी सभा में भाषण देते हुए उसने मन्त्रि मण्डल की कड़ी आलोचना की। फलतः श्रोतागण ने 'इनक़लाब जिंदाबाद' के नारे ही नहीं लगाए वरन् सचमुच चारों ओर क्रान्ति जागृति करदी। यह स्थिति प्रधान मन्त्री ने जब मन्त्रि-मण्डल के सामने रक्खी तो यही निश्चय किया गया कि उस नेता को, जिसने क्रान्ति की चिनगारियाँ फैलाई हैं तथा चन्द अन्य आदमियों को, जिन्होंने कि गाँव में जाकर मन्त्रि-मण्डल की आलोचना की है, मन्त्रि-मण्डल की आज्ञा से जौनपुर राज्य के डिफेन्स रूल्स में नजरबन्द कर दिया जाय। इसके पश्चात् क्रान्ति की चिनगारी बुझ गई और पुनः शान्ति स्थापित हो गई।

यद्यपि जनसाधारण के सर्वमान्य नेता के क़ैद किये जाने में प्रजा को दुःख हुआ लेकिन प्रधान-मंत्री के प्रभावशाली होने से जिसके पास मौनधारण करने के सिवाय और कोई उपाय न था, उसके हृदय पर जो चोट पहुँची और जो घाव हुआ वह जल्दी से भरने वाला न था। उसके पास हथियार न थे जिनका कि वह प्रयोग कर सके। फिर उसमें अधिकतर काश्तकार और मज़दूर थे जिनके हथियार लाठी और पत्थरों के अतिरिक्त हो भी क्या सकते थे? और इनसे वे लोग राज्य की फ़ौज व पुलिस से मुकाबला करने में असमर्थ थे। यदि उनके संग राजपूत-समाज भी होता तो किसी अंश तक वे सफल हो सकते थे, किन्तु प्रधान-मंत्री ने पहले ही जागीरदारों को अपनी ओर मिला लिया था, अतः वे जन-समाज के साथ मिलकर क्रान्ति नहीं कर सकते थे। संभवतः क्षत्रिय-समाज में ऐसे भी निर्धन थे जिन्होंने समय समय पर काश्तकारों एवं मज़दूरों का साथ दिया था किन्तु उनकी दयनीय दशा होने के कारण वे क्षत्रिय-धर्म-पालन के योग्य न रह गये थे।

प्रधान-मंत्री ने अपने शासन को कायम रखने के लिये एक विभाग बनाया, जिस में गुप्तचर रक्खे गये जिन्हें 'गेस्टेपो' की शकल दी गई। इस विभाग के कर्मचारियों ने जो जो दुराचार एवं कष्ट प्रजा को पहुँचाए थे, वे अकथनीय हैं, और यदि उनका उल्लेख किया जावे तो रोम-रोम खड़े हुए बिना नहीं रहते। कुछ ही वर्षों बाद एक दीन किसान ने अपनी राम-कहानी इस प्रकार कही थी:—

"मैं उस समय लगभग पचास वर्ष का था और मेरी स्त्री भी

मेरी ही आयु की थी। हमारे बाल-बच्चे सात थे, जिन में से जेष्ठ पुत्र २१ वर्ष का तथा सब से छोटा ५ वर्ष का था। तीन लड़कियाँ थीं जिनकी आयु उस समय क्रमशः २३, १९ व १७ वर्ष की थी। मेरे दादे के समय का ऋण चला आ रहा था जिसके बदले हमारी जमीन-जायदाद एक साहूकार के यहाँ बिकाव हो चुकी थी। अतः हम केवल उस साहूकार के हाली बनकर खेती करते थे और वह हमें उपज का तीसरा हिस्सा देता था, जिससे हमारा कुटुम्ब २४ घंटों में केवल एक बार भरपेट भोजन कर पाता था। लेकिन महाराज के शासन-काल में उनकी काश्तकारों पर विशेष कृपा-दृष्टि होने से 'किसान-सहायक' कानून जारी किया गया। जिससे मुझे केवल मूलधन ही की अदायगी किश्तों द्वारा करनी पड़ी, और मेरी स्थावर व जंगम जायदाद मेरे हाथ में वापस सौंप दी गई। जब प्रजा-मंडल का शासन हुआ तब भी हम काश्तकारों को पर्याप्त लाभ हुआ, फलतः मेरे पास कुछ पैसा भी जमा हो गया, लेकिन जब दूसरा चुनाव हुआ और तदुपरान्त जो मंत्रि-मंडल स्थापित हुआ उसने तीन-चार वर्षों में पहले के कानून रद्द कर दिये। अतएव उक्त साहूकार ने एक चढ़ी हुई किश्त का दावा करके मेरा घर-बार व खेत कुए कुडक करा लिए और कुडकी के लिये जो अहलकार व सिपाही आये उन्होंने तो ज्यादती की हद कर दी; यहाँ तक कि मेरी जवान लड़कियों के साथ बलात्कार किया गया। जब मेरे भाई बन्धुओं को यह खबर पड़ी तो इस अपवाद से, भरपूर कोशिश करने पर भी उन लड़कियों की कहीं शादी न होने पाई।

नतीजा यह हुआ कि उन में से दो तो मुसलमानों के घर में बैठ गई और एक आत्म-हत्या करके मर गई। मेरी स्त्री भी इस असीम दुःख व सन्ताप से चल बसी। अब रहे मेरे चार बेटे सो भी मेरी स्त्री के मरे बाद कहीं चले गये। वे कहाँ हैं, जिन्दा हैं या मर गये इसका मुझे पता नहीं। मेरे विचार से कई एक काश्तकार जिन का कि पुराना लेन-देन अर्थात् कर्जा जो साहूकारों का था वह क़ानून से गैरवाजिब करार दिया गया था, उसको भी वापस वसूल किये जाने की कारवाई होने लगी, जिसके कारण वे ज़मीन से बेदख़ल हो गए।

प्रधान-मंत्री के विचार में गरीब तुच्छ थे क्योंकि वे यह जानते थे कि संसार मे किस प्रकार राज्य की स्थापना की जाती है और किस तरह अत्याचार-पूर्वक उसकी नींव को दृढ किया जाता है। वे जानते थे कि गरीब विद्रोह करने मे असमर्थ हैं और उनकी शक्ति के परे की बात है कि वे लोग बलवान् के सामने सर उठावें। यदि किसी ने सर भी उठाया तो उस को दबाने में कोई मुश्किल ही न थी क्योंकि ग़रीबों मे संगठन का अभाव है और वे लोग निर्धन होने से शक्तिहीन ही नहीं अपितु अत्याचार-सहिष्णु भी हो जाते हैं। कैसी ही आपत्ति क्यो न हो, वे उसे भी सहन करने को तैयार रहते हैं। इस मे कोई सन्देह नहीं कि उनके हृदय मे उन शक्तिशाली लोगों की ओर लम्बी साँस भरकर आवाज़ उठाने की प्रेरणा भी होती है, लेकिन वह उठकर वापस दब जाती है। यदि ग़रीब उस दयनीय स्थिति में कायर न हो और अपनी हृदय की आवाज़ को

उठाकर यह विचार कर ले कि मुझे वैसे ही तो भूख-प्यास के मारे मरना है, तो वह कुछ कर सकता है। यहाँ तक कि वह अपनी आवाज को क्रान्ति का रूप दे सकता है किन्तु उसे सच्चा नेतृत्व चाहिये। इसके बिना वह कायर रह कर अपना सर्वस्व खो, भय के मारे आत्म-समर्पण कर देता है।

अब धारा-सभा की अवधि जो एक साल की थी, वह समाप्त होने आई और प्रधान-मन्त्री भी फिर से दूसरी बार एक वर्ष की मियाद बढाई जाने के प्रस्ताव को सभा के सामने पेश करने का विचार कर रहे हैं। इस के पहले उन के विचार से जनता का आकर्षण उनकी ओर करने के हेतु उन्होंने प्रजा-मंडल के मुख्य नेता और दूसरे कार्यकर्त्ताओं को जेल से छोडने की घोषणा गजट द्वारा कर दी है। इस लिये जन-समाज के विचार कुछ समय के लिये अवश्य ठंडे पड गये हैं। इसी समय में उन्होंने दुबारा धारा-सभा की मियाद बढाने का प्रस्ताव पेश किया जो सर्वसम्मति से पास हुआ क्योंकि जब पहला प्रस्ताव रक्खा जा रहा था तब जो लोग बोले थे, और जिन्होंने धारा-सभा के सदस्य रहते हुए भी उस प्रस्ताव का बहिष्कार किया जिससे मुख्य नेता व अन्य दूसरे सज्जन जो कि जेल की हवा खा चुके थे। अत वे लोग भवन से बाहर आने के कुछ ही कालानन्तर जौनपुर-राज्य से अन्यत्र देशाटन को निकल गये क्योंकि राज्य की दुर्दशा वे सहन न कर सके और उन्हें बडा सन्ताप हुआ। उन लोगों के राज्य से चले जाने का समाचार सुनकर प्रधान-मन्त्री फूला न समाया और वह सोचने लगा कि

अब कई उसके विपक्ष में खडा न हो पावेगा। और यदि किसी ने भी इस प्रस्ताव के विरुद्ध आवाज उठाई तो जो दशा उन कार्य-कर्त्ताओं की हुई थी वही हालत विरोधियो की कर दी जावेगी।

प्रधान-मंत्री को श्रीकान्त व रामदास के बाहर चले जाने का एक ऐसा अवसर प्राप्त हुआ, जिससे वह जनता में यह बात फैलाने की चे । करने लगा कि 'उन लोगों को राज्य से बाहर निकाल दिया है'। इस समाचार से जनता मे और भी भय छा गया। फिर ऐसा कौन वीर था कि जो राज्य-शासन के खिलाफ वैसा बोले अथवा आन्दोलन मच वे जैसा कि '। प्रजाजनों ने शासन के नाम से जो अत्याचार किये जाते उनको सहन करने ही में अपना हित समझा। पहले तो वे अकाल पडने से कमजोर हो गये थे, दूसरे फिर अत्याचारो न उन्हे निर्धन ही नहीं अपितु सदा के लिये भीरु (बुज दिल) बना दिया जिससे उन की दशा दिन पर दिन शोचनीय व दयनीय होती जा रही थी।

× × × × ×

प्रधान मंत्री ने अपने मंत्रि-मंडल की नीति का समर्थन करते हुए धारा सभा में यह कहा कि—"मैं अपने विचारों का स्पष्टीकरण आप लोगों के समक्ष करना चाहता हूँ क्योंकि कुछ सज्जन मुझे जौनपुर-राज्य का हिटलर या मुसोलिनी कहते हैं। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि मैंने अकाल के समय और उसके बाद धारा-सभा की मियाद बढ़ाने का प्रस्ताव उपस्थित किया जो सर्व-सम्मति से इस सभा ने पास किया ताहम मुझे बदनाम किया जाता

है कि मैंने यह अनुचित राह अपनाई। क्या मैं आपसे पूछूँ कि कोई त्रुटि मेरी ओर से हुई है, जिससे यह मान लिया जाय कि मैंने कोई कार्य अवैधानिक रूप से किया हो ? यदि ये प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास न होते अथवा बहुमत द्वारा स्वीकार न होते और मैं उनको क़ानून का रूप देता तो अवश्य ही मैं दोषी था। मैं फिर कहता हूँ कि क्या विश्वव्यापी दूसरे युद्ध के समय में 'देशी राज्यों में क्या मंत्रियों ने हिटलर एवं मुसोलिनी की तरह सारे राज्य का कार्य अपने हाथ में न लेकर रियासत के रक्षा-नियम (Defence Rules) की आड़ में सैकड़ों मनुष्यों को सन् १९४२ में क़ैद में न रक्खा ? क्या उन्हें बिना मुक़दमा चलाए हुए ही जेल में नहीं रक्खा ? क्या खाद्य-पदार्थों पर कंट्रोल लगा कर प्रजा को दुखी न बनाया ? क्या इन क़ानूनों की पाबन्दी कराने के हेतु पुलिस अथवा राज्य-विभागों के अहलकार एवं कर्मचारीजनों ने अपनी २ जेब गरम नहीं की ? क्या रेलवे स्टेशनों पर जन-साधारण को रुपये खर्चने पर भी परेशानी का सामना न करना पड़ा ? यही नहीं, किन्तु मैं कई एक ऐसे प्रमाण उस समय के शासन काल के दे सकता हूँ जिन से यह सिद्ध होगा कि आज का शासन-काल उस समय के शासन से कई गुना वैधानिक है। आप को याद होगा कि उस समय के नरेश अपने प्रधान-मंत्री एवं कौंसिल के कठपुतली मात्र थे। यदि कोई नरेश जिसके स्वतंत्र विचार होते तो उसे उसका प्रधान मंत्री पोलिटिकल डिपार्टमेण्ट के नाम से धमका देता या उस विभाग द्वारा उसे ऐसी डाट दिलाई जाती कि उसे चुप ही होना

पड़ता। मैं कहता हूँ कि उस समय के क़ानून बिना धारा-सभा के स्वीकृत हुए भी जारी किये जाते थे और जनता किसी तरह भी उनका विरोध करने में असमर्थ थी। परन्तु आज का शासन-विधान प्रजा-तंत्र पर निर्भर है अतएव बिना धारा-सभा की स्वीकृति के कोई क़ानून प्रचलित नहीं किया जाता है। इस पर भी मेरा ही दोष है क्या ? और क्या इस पर भी मुझे डिक्टेटर कहा जावेगा ?

दोषारोपण यह लगाया जाता है कि आज राज्य की बागडोर पूँजीपतियों के हाथ में है किन्तु मैं आप से यह पूछना चाहता हूँ कि इसमें दोष किसका है ? अगर पूँजीपतियों की संख्या बहुमत में धारा-सभा में है तो इसका दोष तो सर्व-साधारण का है, जिन्होंने उन्हें चुना है और उन्हें चुनकर जनता ने अपना विश्वास पूँजी-पतियों पर होना सिद्ध किया है तो इसमें मेरी कौन सी ग़लती हुई है, जिससे कुछ सज्जन जो देशाटन को निकले हैं, वे मुझे दोषी सिद्ध करते हैं। प्रजातंत्र में हरएक दल का कर्त्तव्य है कि अपने उद्देश्य मानव-समाज के सामने रक्खे और अपने सिद्धान्तों को सही सावित करे। मैं पूछता हूँ कि—क्या अमेरिका आदि देशों में पूँजीवाद नहीं है ? अथवा स्पष्ट शब्दों में यह कहा जा सकता है—कि उन देशों में जनता निरीमूर्ख है कि जिसने पूँजीपतियों पर विश्वास करके उनके हाथ में राज्य-शासन का भार सौंपा है। आपको याद होगा कि अमेरिका के स्वर्गीय प्रेसीडेण्ट मि० रूजवैल्ट के तीसरी बार प्रेसीडेण्ट चुने जाने पर यह कहा गया था कि वह राज्य-सत्ता को अपने हाथ से खोना नहीं चहते हैं किन्तु यह

दोषारोपण कहाँ तक सही साबित हुआ यह आप से छिपा नहीं है। यदि मि० रूजवैल्ट तीसरी बार प्रेसीडेन्ट बनने से असफल रहता तो महायुद्ध इतनी जल्दी समाप्त न हो पाता।

इसी प्रकार मि० चर्चिल पर दोषारोपण किये गये थे किन्तु जो सेवा ब्रिटिश-साम्राज्य की उसने की, वैसी किसी अन्य अंग्रेज ने शायद ही की होगी। मैं कहता हूँ कि अकाल के कारण और जन-साधारण के लिये धारा-सभा की मियाद बढ़ाई गई उससे मुझे हिटलर कहना कहाँ तक सही है।"

उस दिन सभा में कई एक सज्जनों ने अपने भाषण में प्रधान-मंत्री की राज्य-सेवाओं का उल्लेख करते हुए अपना पूर्ण विश्वास मंत्रि-मंडल की ओर दर्शाया और अन्त में सर्व सम्मति से मंत्रि-मंडल में विश्वास रक्खे जाने का प्रस्ताव करतलध्वनि द्वारा पास कराया गया।

चौदहवाँ परिच्छेद

महाराज से भेंट

प्रजा-मंडल के नेता श्रीकान्त राज्य के बाहर अपने एक मित्र के साथ किसी एक शहर में कुछ समय से ठहरे हुए थे। ज्योंही उन्हें समाचार मिला कि मजदूर दल के नेता सुरेन्द्रसिंह कैद से छोड दिये गये हैं त्योंही उन्होंने उनको जेल से मुक्त होने पर बधाई देते हुए एक पत्र लिखा, जिसके कुछ अंश का यहाँ उल्लेख किया जाना उपयोगी होगा। वह इस प्रकार है—

"मुझे आपको जेल से आज़ाद किये जाने पर अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। आपने जिस उद्देश्य के पालन करने में कारागार भोगा, वह चिर-स्मरणीय रहेगा आप जैसे वीर से यही विश्वास था जो आपने कर दिखाया। मैं कुछ समय से अस्वस्थ हूँ। अस्तु, अपने एक सुहृद् के यहाँ स्वास्थ्य-सुधार के अभिप्राय से टिका हुआ हूँ। मेरे मित्रों ने जौनपुर से यह लिखा है कि वहाँ ज़ोरों से यह खबर फैलाई गई है कि मुझे जौनपुर से देश निकाला दे दिया गया है, लेकिन इस सूचना मे कोई सत्यांश नहीं है। मैं तो जेल से बाहर आने के पश्चात् श्रीयुत रामदासजी के साथ देशाटन को निकल गया था और जब स्वास्थ्य ठीक होता न देखा तो यहाँ ठहर गया। यदि आपको कष्ट न हो तो कृपया, कुछ समय के लिये मेरे पास आकर

निवास करें ताकि आपका स्वास्थ्य भी, जो इतने अरसे तक जेल में रहने से बिगड़ा होगा, वह कुछ ठीक हो जावेगा।"

जब सुरेन्द्रसिंह को यह पत्र मिला तो वह उसी दिन पहली गाड़ी से वहाँ के लिये रवाना हो गया। श्रीकान्त और रामदास से भेंट कर कई घंटे तक जौनपुर राज्य की स्थिति पर चर्चा करते रहे। अन्ततः तीनों में परस्पर यह निश्चय हुआ कि भूतपूर्व महाराज से भेंट की जावे, जो पदच्युत होने के पश्चात् सकुटुम्ब काशीवास कर रहे थे।

× × × × ×

महाराज अपनी महारानी व राजकुमार के संग काशी में एक साधारण व्यक्ति की तरह निवास कर रहे थे। न तो उनके पास इतना पैसा ही था कि वे अपने पूर्व वैभव को निभालें और न उनकी ऐसी स्थिति ही रह गई थी जिससे एक सद्-गृहस्थ अपना जीवन बिना कष्ट बिताये। उनसे मिलने पर कोई यह नहीं कह सकता था कि वे राज्य से पृथक् होने से दुःखी थे और न उनके दिल में यह इच्छा ही थी कि उनको पुनः जौनपुर की गद्दी मिले।

श्रीकान्त अपने दोनों मित्रों सहित महाराज के यहाँ पहुँचे और सेवक द्वारा भेंट करने की सूचना करवाई। जिस पर महाराज ने उन्हें अपनी बैठक में (Drawing Room) में बुलाया। ज्योंही महाराज ने श्रीकान्त आदि को देखा उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और वे उत्सुकता से पूछने लगे—"आज आप तीनों का यहाँ कैसे आना हुआ ? कहीं रास्ता तो नहीं भूल गये ?"

श्रीकान्त ने कहा—"महाराज ! हम आपके ही दर्शन करने आये हैं और हमें आशा है कि श्रीमान् हमें अपना अमूल्य समय प्रदान करेंगे ताकि हम कुछ निवेदन कर सकें।"

महाराज ने मुस्कराकर जवाब दिया—"अवश्य, मैं प्रसन्नता-पूर्वक आप से वार्तालाप करने को तैयार हूँ, किन्तु आप से विनय है कि वार्तालाप इस प्रकार से हो मानों हम चारों व्यक्ति समान हैं अर्थात् यह न समझिये कि आप अपने भूतपूर्व महाराज से प्रार्थना कर रहे हैं क्योंकि राज्य से अलग होने पर मेरी स्थिति एक जन-साधारण की सी ही है।"

श्रीकान्त—"जो आज्ञा होगी, उसका पालन किया जावेगा। जौनपुर राज्य की जो वर्त्तमान में शोचनीय स्थिति है और दिन पर दिन जैसी भयंकर होती जा रही है, वह सब शायद श्रीमान् को मालूम होगी ही।"

महाराज—"मैं आप से सच कहता हूँ कि जब से जौनपुर छोड़ा है तब से मुझे न तो वहाँ की कोई खबर मिली है और न मैं ही वहाँ के समाचार सुनने का इच्छुक रहा हूँ। हाँ, चन्द काश्तकार गंगा-स्नान करने यहाँ आये थे। उन्होंने मुझे यहाँ आकर अपनी दुःख-गाथा अवश्य कही थी। परन्तु मैंने उन्हें स्पष्ट कह दिया था कि मैं वहाँ का महाराज नहीं हूँ और न यह इच्छा ही रखता हूँ कि मैं वहाँ वापिस जाऊँ। अतएव मैंने जौनपुर के बारे में सुनने की इन्कारी कर दी।"

श्रीकान्त—"श्रीमान्! कम से कम जो हम प्रार्थना करें उसे तो सुनियेगा, फिर जैसी आपकी इच्छा हो करियेगा।"

महाराज—"यदि आपकी यही मरज़ी है तो मैं सुनने को तैयार हूँ।"

श्रीकान्त—आपके जौनपुर, छोड़ने के पश्चात् धारा-सभा द्वारा एक विधान बनाया गया और उसके अनुसार पाँच वर्ष के लिये एक मंत्रि-मंडल भी स्थापित किया गया। प्रथम पाँच वर्ष में मंत्रि-मंडल द्वारा जनता के हेतु जो क़ानून धारा-सभा में रक्खे गये वे सर्व-सम्मति से स्वीकार होने पर उन्हें एक्ट का रूप दिया गया। इन क़ानूनों से काश्तकार एवं मजदूरों का बड़ा हित हुआ। अलावा इसके जो जो कार्य उस काल में हुए वे सराहनीय हैं। मेरा कहने का अभिप्राय यह है कि वह समय ऐसा भासित हुआ कि लोग उसे स्वर्ण-युग कहने लगे और स्वर्गीय महाराज के शासन-काल में प्रजा को जैसी शान्ति थी वैसी ही फिर से दिखाई देने लगी। लेकिन जब दूसरा चुनाव हुआ तो हमें मालूम तक नहीं हो पाया, पर प्रधान-मंत्री ने षड़यंत्र रचकर चुनाव में ऐसे सदस्य प्रजा-मंडल-दल के द्वारा खड़े किये जो चुनने के पश्चात् प्रजा-मंडल के उद्देश्यों को ठुकराने लगे और पूँजीपतियों को हर प्रकार से सुविधायें दी जाने लगीं। अतः ग़रीबों को काफी हानि पहुँची और जब धारा-सभा की मियाद ख़त्म हो गई तो भी प्रधान-मंत्री ने अकाल का बहाना लेकर के उसकी मियाद हरसाल बढ़ाना शुरू किया। इस पर मुझसे चुप न रहा गया। अस्तु, मैंने इसका घोर विरोध किया।

जिसके फलस्वरूप मैं,' रामदासजी तथा कुछ अन्य सज्जन, जिन्होंने जनता के सामने आवाज उठाई, क़ैद किये गये।"

श्रीकान्त ऐसा कह ही रहे थे कि बीच ही में रामदासजी ने जोर देकर यह कहा कि—"महाराज के शासन-काल में हमें कष्ट था। उसको दूर करने की चेष्टा की गई तथा जनता में कई एक भाषण दिये गए। पर महाराज ने हमें जेल में तो नहीं भेजा।"

श्रीकान्त—"मैं तो समझता हूँ कि महाराज का शासन इस वर्त्तमान हिटलरशाही से कहीं अधिक अच्छा था। हमारे साथ ही साथ मजदूर दल के नेता सुरेन्द्रसिंह भी जेल में रख दिये गये थे, जो ये अभी जेल से छूटकर ही आ रहे हैं।' (सुरेन्द्रसिंह की ओर देखते हुए)—"क्या आप बता सकते हैं कि हमारे जौनपुर छोड़ने के बाद और क्या क्या अत्याचार हुए?"

सुरेन्द्रसिंह—"यदि एक दुःख हो तो कहूँ, अत्याचारों का तो बोलबाला है।"

श्रीकान्त—"श्रीमन्! हमारी आप से यह हार्दिक प्रार्थना है कि आप फिर से जौनपुर के शासन की बागडोर अपने हाथ में लें। लेकिन इससे मेरा यह प्रयोजन नहीं है कि जो शासन-विधान बनाया गया है, वह रद्द किया जावे।"

महाराज—"श्रीकान्तजी! मैंने जौनपुर के नये शासन विधान का अबतक अवलोकन नहीं किया है, परन्तु एक बात मैं आप से कहना चाहता हूँ वह यह कि मैं प्रजा-तंत्र का विरोधी नहीं हूँ। मेरे विचार में एक ही प्रकार का विधान हरएक काल में उपयुक्त नहीं

होता। भारत का इतिहास हमें बताता है कि जब से भारतवर्ष में विक्रमीय संवत् स्थापित हुआ है तब से कई प्रकार की शासन-प्रणालियें प्रचलित हुई हैं एवं समय की गति से वे बदलती भी गई। यही नहीं किन्तु जबसे मुगलों के आक्रमण भारत पर होने लगे और और बाद में मुगल-साम्राज्य की स्थापना हुई तब देशी राज्यों का शासन उस समय के अनुसार नरेशों के हाथ में था। निस्सन्देह सामन्तों का हाथ राज्य के शासन में अवश्य था। वही शासन-प्रणाली भारत में अंग्रेज आये तब तक रही। इसके पश्चात् जब भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हुई उस समय से राज्यों के शासन-विधान राजनैतिक विभाग (Political Department) की राय से क़ायम होते चले गये। यद्यपि मैं सामन्तशाही के पक्ष में नहीं हूँ तथापि यह अवश्य कहूँगा कि सामन्तों का नरेशों पर प्रभाव बुरा न था बल्कि नरेश उस समय अपनी मनमानी न कर पाते थे। हमें रईसों के कॉलेज में ऐसी शिक्षा दी गई कि जिससे हम पुराने विचारों के नरेशों की मखोल उड़ाकर नई पाश्चात्य सभ्यता की ओर झुकने लगे। और भी हम नरेशों को यह सिखाया गया कि जागीरदारों का प्रभाव राज्य-शासन में न रहना चाहिये और उनको हर प्रकार से कुचल देना चाहिये ताकि वे नरेशों का मुकाबला न कर सकें, और प्रजा के प्रति यह सुझाया गया कि उसको गुलाम रखने का यही तरीका है कि उसे शिक्षा से बचाया जावे अन्यथा सर्वसाधारण के शिक्षित होने से नरेशों के हाथों से राज्य-सत्ता चली जावेगी। मैं आप का अधिक समय नहीं लेना चाहता

हैं. क्योंकि मुझे अन्देशा है कि कहीं मैं अपनी राम-कहानी सुनाते २ आप का अमूल्य समय न ले लूँ। समय आने पर मैं अपनी आत्म-कथा प्रकाशित करूँगा जब आप को पता चलेगा कि वास्तव में देशी नरेशों का इतना दोप नहीं है, जितना कांग्रेस के मान्य नेता बतलाते हैं। हमतो केवल नाममात्र के नरेश थे, वरना हमारे हाथ में किसी प्रकार की सत्ता न थी जिसके बल पर प्रधान मंत्री की राय का विरोध करें। अगर ऐसा किसी नरेश ने किया भी तो उसे राज्य के बाहर जाने की सलाह दी गई जिसको वह अस्वीकार नहीं कर सकता था। मैं समझता हूँ कि देशी नरेश अपने राज्य में क़ायम रह सकते हैं परन्तु उन्हें किसी प्रकार का उत्तरदायित्व-शासन क़ायम करना पड़ेगा।"

श्रीकान्त—"महाराज! आपके विचार सर्वमान्य हैं, फिर भी मैं श्रीमान् से जानना चाहता हूँ कि किस कारण श्रीमान् जौनपुर छोड़ कर चुपचाप चले आये?"

महाराज—"श्रीकान्तजी! आप यह बात क्यों पूछते हैं? बीती हुई बात के लिये पूछना बेकार है।"

श्रीकान्त—"तब भी मेरा अनुरोध है कि श्रीमान् अवश्य अपना दिली कारण बताने का कष्ट करें।"

महाराज—"आपके आग्रह से मैं कहता हूँ कि मुझे आपके प्रधानमंत्री ने सलाह दी कि मैं अपने कुटुम्ब-सहित तुरन्त ही राज्य छोड़ चला जाऊँ नहीं तो मेरी जान का खतरा होना बताया गया, इत्यादि...............। यह सुनकर तीनों असमंजस में पड़गये।"

श्रीकान्त ने उच्च स्वर में कहा—महाराज! नहीं, नहीं। हम प्रजामंडल के नेता गण राज्य के शासन-विधान में कुछ हेर फेर चाहते थे और हमारी माँग उत्तरदायित्व-शासन स्थापित किये जाने की थी और यह भी आप की ही छत्र-छाया में, हमारा विरोध व्यक्तिगत रूप से न था।'

श्रीकान्त का समर्थन रामदास व सुरेन्द्रसिंह ने भी किया। जिस पर महाराज उत्तेजित हो बोले—"मुझे तो यहाँ तक कहा गया था कि जनता पर गोली चलाई जाय, परन्तु मैं ऐसा करने को सहमत न हुआ। मैंने यही विचार लिया कि यदि मेरी प्रजा मुझे मारने को तैयार है तो उचित यही है कि मैं जनता के विचारों का विरोध न कर राज्य को छोड़ दूँ।"

श्रीकान्त—"श्रीमान् से यह निवेदन करना अब वृथा है कि उस समय श्रीमान् को चाहिये था कि कम से कम प्रजा-मंडल के प्रमुख नेताओं को बुलाकर उनसे परामर्श कर लेते तो यह स्थिति उत्पन्न न हो पाती और जनता की भी यह दुर्दशा न होती, जो आज हो रही है। मेरी तो श्रीमान् से यही प्रार्थना है कि वापस फिर जौनपुर चलें और प्रजा के कष्टों को दूर कर फिर से शान्ति स्थापित करें।"

महाराज—"श्रीकान्तजी! आपके प्रस्ताव का मैं आदर करता हूँ किन्तु मेरा आपसे यह निवेदन है, कि अब वृद्धावस्था में जब कि मैंने वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण कर लिया है और जीवन का अन्तिम

समय अधिक दूर नहीं है, आप क्यों मुझे वापस राज्य के प्रपंचों में डालना चाहते हैं। मुझे तो इस संसार से वैराग्यसा हो गया है, अब मुझे तो क्षमा कीजिये।"

श्रीकान्त—"महाराज जो जनता एक समय आपकी प्रजा कहलाती थी, उसके दुःख मिटाने का आपका कर्त्तव्य ही नहीं अपितु धर्म है। इसके अतिरिक्त आप क्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुए हैं, जिसने कायरता तथा हार मानना कभी सीखा ही नहीं। अतएव महाराज हमारी प्रार्थना स्वीकार न करेंगे तो हमें बड़ा दुःख होगा और हम यह कहेंगे कि क्षत्रियवंश इस संसार में अस्त हो चुका है।"

महाराज—"श्रीकान्तजी ! यह आप न कहें कि क्षत्रियत्व नहीं रहा, वह तो मौजूद है और सदैव ही किसी न किसी रूप में रहेगा। हाँ, जिस प्रकार अग्नि पर राख आ जाने से उसकी ज्वाला दिखाई नहीं देती, उसी तरह हम क्षत्रिय एक शताब्दी से घोर निद्रा में सो रहे हैं। कदाचित् कोई अग्नि को प्रज्वलित करने का प्रयत्न करे तो कोई कठिन समस्या न होगी। उसी प्रकार देशी नरेश भी अपने क्षात्र-धर्म का पालन करते हुए अपनी प्रजा के हितकर सिद्ध होंगे।"

श्रीकान्त—"महाराज ! श्रीमान् तो एक संस्कृत के विद्वान् हैं और भारत के इतिहास से अनभिज्ञ नहीं हैं। मैं समझता हूँ कि उस समय श्रीमान् की अपेक्षा हमारी गलती अधिक थी। हमें चाहिये था कि राजकर्मचारियों की बातों में न आकर श्रीमान् से स्वयं मिलते और जनता के हित के लिये कोई उपाय सुझाते। जो हुआ सो हुआ, अब भी श्रीमान् जौनपुर वापस पधारें।"

महाराज—"आप जब इतना कहते हैं तो मुझे वहाँ जाना स्वीकार है किन्तु एक शर्त है, वह यह कि आप पहले जौनपुर की जनता के विचार मेरी ओर करने की चेष्टा करें ताकि कोई मेरे विरुद्ध आन्दोलन न मचावे।"

श्रीकान्त—"महाराज! मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि ऐसा कोई मनुष्य न होगा जिसके दिल में वर्तमान शासन की ओर घृणा न हो। मेरे विचार में महाराज का ऐसा स्वागत होगा जैसा श्रीराम का वनवास से लौटने पर हुआ था। स्मरण रहे कि मैं साम्राज्यवाद के पक्ष में नहीं हूँ और न मेरे मित्र सुरेन्द्रसिंह ही इसके पक्षपाती हैं; वे तो साम्यवाद के अनुयायी हैं किन्तु जौनपुर की परिस्थिति ऐसी हो गई है कि जनता क्रान्ति की आवाज उठाने में असमर्थ है। अब जौनपुर के हित का केवल एक ही साधन है और वह यह कि महाराज वापस लौटें क्योंकि देशी राज्यों की प्रजा के दिल में अभी तक राजा के व्यक्तित्व में श्रद्धा एवं भक्ति के भाव हैं। जौनपुर के निवासी अभी तक स्वर्गीय महाराज के शासन-काल का स्मरण करते हैं कि उनका शासन कितना ऊँचा और न्यायपूर्ण था तथा उनका जीवन कितना सरल और आदर्श था? उस समय इन्साफ छोटे से लेकर बड़े तक को बिना घूंस दिये मिलता था। जिस तरह आज क़ानूनी इन्साफ असत्यता को लिये हुए मिलता है, उस तरह उस समय न मिलता था। वर्तमान में काश्तकारों एवं मजदूरों की जो दयनीय दशा है वह उस समय न थी और वे लोग उस समय अपना जीवन बड़े

सुख से व्यतीत करते थे। सचमुच वह राम-राज्य था, जिसकी प्रशंसा करने के लिये हमारे पास शब्द नहीं हैं।"

महाराज रोमांचित हो गये, उनकी आँखों में से अश्रुधारा बहने लगी और वे अपने को पुनः सँभालकर बोले—"श्रीकान्तजी! मुझे आपकी आज्ञा का पालन करना होगा। अब आप जौनपुर को प्रस्थान करें और वहाँ पहुँचकर मुझे संदेशा भेजें। मैं उसी समय अवश्य प्रस्थान कर दूंगा और जनता के कष्ट-निवारण में अपना तन, मन, धन न्यौछावर कर अपने को धन्य समझूँगा।"

श्रीकान्त आदि महाराज का साधुवाद करके वहाँ से रवाना हुए और सोचने लगे कि अब क्या उपाय किया जावे। सुरेन्द्रसिंह का यह विचार था कि प्रधानमंत्री को गोली से मार दिया जावे, किन्तु इस विचार से श्रीकान्त एवं रामदास सहमत न हुए। उनका विचार था कि जनता में काफी व्याकुलता छाई हुई है जिसके कारण प्रधानमंत्री महाराज के पदार्पण पर कुछ न कर सकेगा। अतः यह तय किया कि सुरेन्द्रसिंह व रामदास जौनपुर चले जाँय और वहाँ पहुँचकर श्रीकान्त को सूचना दें ताकि वह अपने साथ ही महाराज को लेकर जौनपुर चला आवे।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

महाराज का पुनः आगमन

जब से श्रीकान्त, रामदास आदि नेताओं का जौनपुर के राज्य को छोड़कर चला जाना प्रधान-मंत्री को मालूम हुआ तब से वह मन में बड़ा व्याकुल था, क्योंकि उसे भय था कि कहीं वे लोग क्रान्ति की चिनगारी चेताने के हेतु ही तो बाहर न गये हों। पर उसको यह कभी विचार नहीं आया कि श्रीकान्त जैसे साम्राज्यवाद के कट्टर शत्रु महाराज से मिलकर उनसे पुनः जौनपुर-आगमन की प्रार्थना करेंगे। लेकिन जब उसको राज्य के गेस्टेपो द्वारा यह खबर मिली कि श्रीकान्त तथा दो अन्य नेता महाराज से जाकर मिले हैं, तो उसके भय की कुछ सीमा न रही, और तब से वह गेस्टेपो विभाग के प्रमुख कर्मचारी की सहायता का कायल बन गया और अपना प्रभाव कायम रखने के लिये राज्य में मोटर द्वारा हर जिले में दौरा करने लगा। लेकिन कोई काश्तकार उसके पास पुकारू न आता था, तब भी वह भय के कारण रात को सो नहीं सकता था। इस कारण उसके स्वास्थ्य में कमी आने लगी। डाक्टरों के कहने पर भी वह आराम लेने से विवश था, क्योंकि उसका मर्ज़ तो दूसरा ही था जिसका इलाज डाक्टरों के बूते का काम न था। उसकी

हालत ऐसी हो गई कि वह हरएक कर्मचारी से मिलने पर चिढ़ने लगा। यहाँ तक कि दूसरे मंत्री जो कि उसके सहयोगी थे वे भी उससे किनारा काटने लगे और सोचने लगे कि इस प्रधानमंत्री के पश्चात् कौन प्रधान चुना जावेगा। इस द्वेषभाव में मंत्रि-मंडल अपने कार्य की ओर शिथिलता प्रकट करने लगा और उसमें मतभेद हो भिन्न भिन्न दल क़ायम होने लगे।

जब यह स्थिति सुरेन्द्रसिंह को भली प्रकार मालूम हुई तो उसने रामदास से परामर्श किया और एक पत्र श्रीकान्त के नाम किसी विश्वस्त सहकारी के साथ काशी भेजा। डाक में पत्र डालना उचित न था क्योंकि गेस्टेपो द्वारा जो पत्र जौनपुर राज्य में आते व बाहर जाते थे वे बिना खोले डाक से न निकल पाते थे।

श्रीकान्त पत्र पाते ही महाराज के पास पहुँचा और उनको जौनपुर की परिस्थिति से परिचित किया। महाराज चलने को तैयार हुए किन्तु मोटर या रेल द्वारा वे जौनपुर की यात्रा करना नहीं चाहते थे। अस्तु, हवाई जहाज से महाराज, उनके युवराज, श्रीकान्त तथा दो और सेवकों ने प्रस्थान करना निश्चय किया। श्रीकान्त ने विचारा कि कुछ विज्ञप्तियाँ (Hand Bills) छपवा-ली जावें जो जब जहाज जौनपुर पर मँडरावे, तब ऊपर से डाली जावें ताकि जनता को महाराज के शुभागमन की सूचना हो जावे। हवाई जहाज उस दिन नहीं मिला अतः दूसरे दिन प्रातः-काल रवाना हुए। क़रीब ४ घंटे में हवाई जहाज जौनपुर पर जा मँडराया। श्रीकान्त ने ऊपर से ही इश्तिहार (Hand Bills) डाले

जिनमें लिखा था कि—"जनता ने महाराज को आने की प्रार्थना की है। अस्तु, श्रीकान्त उन्हें लेकर आ रहे हैं। सर्व साधारण को सूचना दी जाती है कि ऐरोड्रम पर आकर महाराज का स्वागत करें।"

जब रामदास और सुरेन्द्रसिंह ने हवाई जहाज को शहर पर चक्कर काटते हुए देखा तो वे इधर-उधर से अपने अनुयायियों को बुला उनके संग जल्दी जल्दी से ऐरोड्रम की ओर बढ़े। जनता भी इनके पीछे पीछे दौड़ पड़ी और बात की बात में हजारों की तादाद में हवाई जहाज के नीचे उतरने के पूर्व ही ऐरोड्रम को घेर खड़ी हुई और महाराज की जय जयकार करने लगी।

हवाई जहाज के भूमि पर उतर आने पर सर्व प्रथम श्रीकान्त उससे बाहर निकले और उन्होंने जनता को कहा—"बहनो और भाइयो ! मैं आपका अपराधी हूँ कि बिना आपकी सम्मति लिये ही, महाराज को वापस ले आया हूँ। यदि मुझे आप दोषी ठहराते हैं तो मैं आपके हाथों में हूँ, मुझे आप यहीं मिट्टी मे मिला दीजिये। आपका जी चाहे सो करिये। मैं आपसे यह जानना चाहता हूँ कि क्या मैं दोषी ठहराया गया ?" इतने ही में चारों ओर से जोर २ की आवाज आने लगी कि—"नहीं, नहीं ! आपने वही कार्य किया जो हम कई दिनों से चाहते थे। हमें तो यह कहिये कि महाराज हैं कहाँ, हम तो उनके दर्शनों के लिये बड़े उत्कण्ठित हो रहे हैं।"

श्रीकान्त ने कहा—"आपकी इच्छा पूर्ण होगी, महाराज जहाज के अन्दर हैं और अब मैं आपकी ओर से उनसे प्रार्थना करता हूँ कि वे बाहर पधारने का कष्ट करें।"

इतने ही में श्रीकान्त ने जहाज का दरवाजा खोला और महाराज तथा युवराज से बाहर पधारने की प्रार्थना की। महाराज को बाहर आते देख जनता ने 'महाराज की जय हो' 'महाराज की जय हो' के नारे लगाए और उसने हर्षोल्लास से उनका स्वागत किया। महाराज गद्गद् हो गये और उन्होंने दोनो हाथों से सब को नमस्कार किया तदुपरान्त एक ओर लकड़ी के प्लेटफार्म पर जाकर खड़े हो अपनी प्रिय प्रजा को धन्यवाद देते हुए कहने लगे—"भाइयो ! मैं सबसे पहले आपके समक्ष यहाँ उपस्थित हो आने के लिये क्षमा माँगता हूँ। यदि आप मुझे क्षमा करते हैं तो मैं आप से दो शब्द निवेदन करता हूँ, वे यह कि—आप भूल जाइये कि मैंने आप पर कितने जुल्म किये थे। मैं दोषी अवश्य हूँ, किन्तु जब आपको कुल हालात मालूम होंगे तब पता चलेगा कि किस हद तक मैं दोषी ठहराया जा सकता हूँ। यदि मुझे यह मालूम होता कि आप मेरे प्रतिकूल नहीं किन्तु मेरी शासन-सत्ता से थे, तो मैं अवश्य ही उपाय सोचता। मुझे तो आपके प्रधान-मंत्री ने यह कहा था कि आप लोग मुझे मार डालना चाहते हैं इसलिये उनकी सलाह से राज छोड़कर चला गया।"

ऐसा सुनकर जनता चिल्लाने लगी कि—"प्रधानमंत्री को धिक्कार है, धिक्कार है। उसके जुल्मों से हम तंग आ गये, अब हम उसे कदापि जिन्दा न छोड़ेंगे।"

महाराज ने जनता से कहा—"आप लोग शान्ति रक्खें" और फिर यह कहने लगे कि "सज्जनो ! मैं जानता हूँ कि आज का समय

प्रजा-तंत्र की ओर बढ़ रहा है। मैं उसे कदापि रोकना नहीं चाहता क्योंकि सारे विश्व में आज प्रजातंत्र ही प्रजातंत्र दृष्टिगोचर हो रहा है और यदि कोई एक व्यक्ति बिना जनता के सहयोग व अनुमति से राज्य-शासन चलाना चाहे तो यह असंभव है। यदि आप चाहते हैं कि फिर से राज्य-शासन की बागडोर मैं अपने हाथ में लूँ, तो उसके लिये मेरी एक शर्त यह है कि मैं प्रेसीडेन्ट के रूप में रहने को तैयार हूँ। अगर आप चाहें तो, मुझे प्रेसीडेन्ट का नाम न देकर महाराज के नाम से पुकारें लेकिन मेरे अधिकार जिस तरह एक साम्यवाद तथा समाजवाद के राष्ट्र में होते हैं उसी तरह से रहेंगे, उनसे अधिक कदापि नहीं। जैसे ब्रिटिश-विधान में राजा का स्थान है उसी प्रकार मैं यहाँ की सामाजिक परिस्थितियों को ऊँची उठी देखकर रहना चाहता हूँ अगर आप मुझसे सहमत हैं तो आज्ञा प्रदान कीजिये कि मैं राजद्वार में प्रवेश करूँ और फिरसे शान्ति की स्थापना करूँ।"

जनता महाराज के भाषण से तथा जो विचार उन्होंने प्रकट किये उनको सुनकर फूली न समा रही थी। महाराज की 'जय-जयकार' की ध्वनि अधिकाधिक बढ़ती जा रही थी।

महाराज यह सुअवसर देखकर फिर बोलने लगे कि—"आप यह न समझें कि मैं राजप्रासाद में जाकर ये सब बातें और जो मैंने प्रतिज्ञा की है वह भूल जाऊँगा। मैं तो यह कहता हूँ कि मुझे तो एक मामूली सा मकान रहने को दे दीजिये, मैं आलीशान महलों में निवास करने नहीं आया हूँ। मैं तो चाहता हूँ कि राजमहल,

जिनकी कि मुझे आवश्यकता नहीं है वे अजायबघर बना दिये जावें, और बाग़ बग़ीचे राज्य के न होकर जनता के उपयोग में लिये जावें और जो ख़ज़ाना मैं राजमहलों में छोड़कर गया था, उसे मैं जनता को एक ट्रस्ट के रूप में भेंट करना चाहता हूँ। यदि आपको स्वीकार हो तो कहिये, मैं तैयार हूँ।"

इतने मे जनता जो हज़ारों की तादाद में एकत्रित थी, फिर से जय जय घोष करने लगी। इस बार की ध्वनि पहले की जय-ध्वनि से कहीं अधिक थी और सिवाय जय जय के और कुछ सुनाई न दे रहा था। लेकिन जब महाराज ने दाहिना हाथ ऊँचा उठाकर सबको शान्त होने का संकेत किया तो सब ऐसे चुपचाप हो गये मानो वहाँ कोई था ही नहीं। वह शान्ति यह सिद्ध कर रही थी कि जनता के दिल में महाराज की ओर बड़ी श्रद्धा थी; मानो वे उनके नेता थे न कि महा-राज। महाराज फिर कहने लगे—"मैंने अभी आपको राज-ख़ज़ाने के लिये, जो मैं पीछे छोड़ गया था और जिसकी क़ीमत करोड़ों की संख्या में है, भेंट कर देने को कहा है परन्तु मैं आपसे कहता हूँ कि वह ख़ज़ाना मेरे चले जाने के बाद आपके प्रधान-मंत्री ने अपने घर पर मँगवा लिया था। यदि आप मेरे कथन का विश्वास न करें तो अभी सीधे जाकर मंत्री के घर को सँभालिये, आप जल्दी कीजिये, देरी न करिये, क्योंकि कहीं वह ख़ज़ाना आपके पहुँचने के पूर्व ही कहीं दबा न दिया जावे। यदि ख़ज़ाना वहाँ न मिले तो मैं उसका ज़िम्मेवार हूँ। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि जबतक आप इसकी छानबीन कर मुझे निर्णय न देंगे तबतक मैं यहीं ठहरा रहूँगा और

अगर खजाना न मिला तो मैं इसी जहाज से वापस मुड जाऊँगा वरना मिल जाने पर जबतक कि मेरे लिये दूसरा मकान न बने तब तक आपसे राजभवन में ठहरने की आज्ञा लेना चाहता हू।

महाराज ने जब प्रधान-मन्त्री के घर पर खजाना होना बताया, तब जनता की शान्ति-भग हो गई और हर ओर से प्रधानमन्त्री की कटु आलोचना होने लगी।

सुरेन्द्रसिंह ने जनता की मनोवृत्ति देखकर कहा—"चलो मेरे साथ हम सब प्रधानमन्त्री के घर की जाकर तलाशी लें।" इतना ही कहना था कि टिड्डी-दल तुल्य जनता महाराज की जय जयकार करती हुई उसके पीछे हो प्रधानमंत्री के घर की ओर बढ चली।

प्रधान-मन्त्री ने जब सुना कि हजारों की तादाद मे जनता महाराज का स्वागत करने को हवाई जहाज के अड्डे पर पहुँच है तो उसकी व्याकुलता की सीमा न रही। वह रोने-चिल्लाने तथा पागल की भाँति बडबडाने व ऊटपटाँग बातें बकने लगा। यह देखकर उसके कुटुम्बियों ने उसे एक कमरे में बन्द कर ताला लगा दिया। उधर मन्त्रियो ने अपने-२ घर में जाकर चुपचाप मकान में घुस कर दरवाजे बन्द कर लिए क्योंकि उन्हें भय था कि कहीं जनता, जो रोषभरी आ रही थी, उन्हें पकड कर उनकी मिट्टी पलीत न करदे।

उधर जनता के चले जाने के बाद श्रीकान्त ने महाराज से अनुरोध किया कि वे राज महलों म पधारें, लेकिन महाराज इन्कार हो गये और उन्होंने कहा कि—"मैंने जो जनता के सामने प्रतिज्ञा

की है उसका पालन करूँगा। अतः श्रीकान्तजी आप जल्दी न कीजिये। मेरी सत्यता जनता की कसौटी पर लगने दीजिये। मेरा दृढ़ विश्वास है कि जो सूचना मुझे मिली थी उस आधार पर मेरा कहना ध्रुव सत्य है कि प्रधान-मंत्री ने सारे राज्य-कोष को हड़प कर लिया है।"

पुलिस व फौज ने जब जनता के विद्रोह की गति देखी तो वे चुपचाप हो गये, हालाँकि पुलिस के मुख्य कर्मचारी ने, जो कि प्रधान-मंत्री के मित्र थे, जनता पर गोली चलाने की आज्ञा दी तथापि सिपाहियों ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया और यही नहीं बल्कि वे भी जनता के साथ हो लिये। यह देख कर मुख्य कर्मचारी भी चुपके से चम्पत हो गया।

सुरेन्द्रसिंह जनता के साथ प्रधान-मंत्री के द्वार पर पहुँचा, तो दरवाजा बन्द था और केवल एक ओर खिड़की में से कोई नवयुवती झाँक रही थी। बाकी कुल प्रवेश-द्वार तथा खिड़कियाँ वगैरा बन्द कर दिये गये थे। पर जब जनता की रोष-रूख देखी तो किवाड़ खोल दिये गये तब सुरेन्द्रसिंह ने कुछ आदमियों के साथ अन्दर प्रवेश करते हुए जनता को बाहर खड़े रहने का आदेश किया। उसने अन्दर जाकर उस स्त्री को पूछा कि प्रधान-मंत्री कहाँ हैं? तो उस नवयौवना ने जो कि प्रधानमंत्री की दूसरी स्त्री थी, उस (प्रधान-मंत्री) की उक्त दुर्दशा का बयान किया और सुरेन्द्रसिंह को एक दहलान की ओर बढ़ने का संकेत किया। सुरेन्द्रसिंह बिजली के से वेग से अपने दल सहित उस ओर बढ़ा और आतुरता से दहलान

का ताला तोड अन्दर घुसा तो क्या देखता है कि सारा का सारा खजाना जमीन में पड़ा है, जिसे देखकर मन के सब दंग रह गये और पहचान गये कि कुल जवाहरात एवं हाथी घोडों के जेवर आदि राज्य के खजाने के ही हैं। सुरेन्द्रसिंह ने बाहर आकर वहाँ पुलिस का पहरा तैनात करके खडी हुई जनता को यों कहा—

"राज्य का खजाना मिल गया है। महाराज ने जो कहा था, वह अक्षरशः सत्य है, हमें चलकर महाराज को लिवा लाना चाहिये।"

जनता अधिक संख्या में प्रधान-मंत्री के ही द्वार पर खडी रही, केवल कुछ लोग सुरेन्द्रसिंह के साथ हो लिये जिन्होंने महाराज को जाकर खजाना मिल जाने की सूचना दी। यह सुनकर महाराज को तथा जो वहाँ विद्यमान थे, उन सब को प्रसन्नता हुई। श्रीकान्त के अनुरोध पर महाराज मुस्कराये और एक मोटर में बैठकर युवराज समेत महलों की ओर रवाना हुये।

सोलहवाँ परिच्छेद

आदर्श शासन

महाराज ने पुनः जौनपुर-आगमन पर आग्रहपूर्वक नेताओं को प्रधान मंत्री के घर भेज राजकीय कोष इत्यादि की वहाँ होने की जो जाँच-परताल कराई, उसकी हलचल सुनकर ही प्रधानमंत्री पागल हो गया था। उसकी अवस्था दिन पर दिन खराब ही होती गई। वह कभी क्या बड़बड़ाने लगता, तो कभी क्या। उसका चित्त अस्थिर हो गया, वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा—"मैं अपराधी हूँ, मेरे कारण यह सब दुर्दशा हुई है।" महाराज को जब उसकी ऐसी अवस्था का पता चला तो वे उसके घर गए। महाराज को देखते ही प्रधानमंत्री सिर झुकाकर उनके चरणों में साष्टांग दण्डवत करने के स्वरूप भूमि पर लेट गया और उस समय तक लेटा रहा जब तक कि महाराज ने उसे उठाते हुए यह आश्वासन नहीं दिया कि उसकी रक्षा का भार उनके जिम्मे है। अतः उसे किसी प्रकार का भय हो तो उसे दूर कर देना चाहिए। इस अभयदान को प्राप्त कर प्रधानमंत्री शान्त हो गया और करबद्ध महाराज के सम्मुख खड़ा हो क्षमा-याचना करने लगा। तब महाराज ने उसे इस प्रकार कहा:—

"मंत्रीजी ! आपको क्षमा प्रदान की जाती है किन्तु इसके साथ यह आज्ञा है कि राज के खजाने से जो जवाहरात, रुपया, माल असबाब आप अपने यहाँ ले गये हैं, उन सबको वापिस राज-कोष में जमा कराना होगा।"

महाराज का यह आदेश सुनकर प्रधानमंत्री भौचक्का हो इधर-उधर ताकने लगा। वह आश्चर्य में पड़ गया। उसको अब तक मालूम न हो पाया था कि किसी को अथवा स्वयं महाराज तक को भी उसकी राज-महल से खजाना वगैरा ले आने की करतूतें अवगत हो गई हैं। अब उसके पास कोई चारा न रहा जिससे वह अस्वीकार करता क्योंकि वह भयभीत हो रहा था और उसकी जान तक के लाले पड़ रहे थे। अस्तु, उसने अविलम्ब ही जहाँ सब राजकीय सामान धरा था उसे महाराज को जा दिखाया। महाराज ने अपनी सब सामग्री को पहचान राजकर्मचारियों को आज्ञा दी कि वे उसे वापस राज-कोष में जा जमा करावें।

प्रधानमंत्री इस सदमें से रात-दिन चिन्तित रहने लगा। वह सो तक भी नहीं पाता था। उसकी दशा बड़ी शोचनीय होती गई। कितनी ही उसकी चिकित्सा कराई गई, किन्तु 'राज-रोग के रोगी' की तरह अन्त में वह इस संसार को छोड़ चला।

×　　×　　×　　×

महाराज ने प्रजा-मंडल, मजदूर-दल, मुस्लिम व जागीरदार-संघ इत्यादि दलों के प्रमुख नेताओं को आमंत्रितकर दरबार-

हाल में एक सभा की जिसमें उन्होंने अपनी नीति की घोषणा की। उसका कुछ उल्लेख करना यहाँ उपयुक्त होगा, वह इस प्रकार है:—

"सबसे प्रथम मैं आपको यह बता देना चाहता हूँ कि जौनपुर के महाराज का स्थान यहाँ के शासन-विधान में क्या रहना चाहिए। मेरे विचार में इस समय राजा को अपने दैविक-अधिकार त्याग देना चाहिए और उसे वैधानिक-राज-तंत्र की स्थापना करनी चाहिए जिसमें राजा उस विधान का एक अंग हो याने उस शासन-तंत्र में राजा का स्थान वैधानिक रहे। दूसरे शब्दों में मेरे कहने का यह प्रयोजन है कि राजा को सत्ताधारी न रहकर उसको पूर्ण उत्तर-दायीत्व-शासन स्थापित करना चाहिए। मैं मेरे विचार और भी स्पष्ट कर देता हूँ कि राज की सत्ता केवल राजा में ही नहीं रहेगी अपितु साथ साथ धारा सभा में भी। अब तक शासन-विधान के अनुसार वही जन चुनाव के समय मत दे सकते थे जिनकी आय सौ रुपये वार्षिक से अधिक थी अथवा २५) साल के मालगुजारी के लगानरूप में जमा कराता किन्तु मैं इससे सहमत नहीं हूँ; मैं तो सर्वजन मताधिकार का पक्ष-पाती हूँ और वह भी संयुक्त-चुनाव-पद्धति (Joint electorate) द्वारा ही का। क्योंकि जातिवार मत प्रकट करना राजनैतिक सिद्धान्तों के विरुद्ध है।

"यदि चुनाव समानुपात-प्रतिनिधित्व (Proportional-Representation) के अनुसार हुआ होता तो ऐसा कदापि न होता। बल्कि इस सिद्धान्त के अनुसार यदि गणना की जाय तो मेरे मत

के अनुसार इस तरह धारा-सभा में प्रत्येक दल के सदस्यों की संख्या होती, जो जनता के विचारों का प्रतिबिंब होती।"

"चुनाव के कई तरीके प्रचलित हैं। परन्तु उनमें सब दलों का समान प्रतिनिधित्व नहीं होता। इसके सुधार के उपाय समय-समय पर सुधारकों ने सुझाए हैं। जैसे (१) सामुहिक राय (The Commulative vote) (२) द्वितीय चुनाव (Second ballot) (३) अदल-बदल राय (The Alternative vote) परन्तु इनमें एक न एक भूल अवश्य रहती है। समानुपात प्रतिनिधित्व ही एक उपाय है जिसमे जनता का वास्तविक प्रतिबिम्ब धारा सभा में हो सकता है। अस्तु।"

"मैं समझता हूँ कि चुनाव के इस उसूल को रद्द किया जावे और इसके बजाय जैसा कि मैं आपको बता चुका हूँ उसे एक्ट द्वारा स्थापित किया जावे ताकि जन समाज का सच्चा प्रतिनिधित्व धारा-सभा में जा पावे। अभी तक मंत्रि-मंडल की स्थापना उस दल के द्वारा होती थी जिस दल के सदस्यों की संख्या धारा-सभा में बहुमत में थी। किन्तु मैं समझता हूँ कि जब हमारा समाज १० प्रतिशत शिक्षित है वैसी परिस्थिति में किसी एक दल पर मंत्रि-मंडल क़ायम करने का भार डालना उचित नहीं है। यों तो समाज को अशिक्षित रखने के हम ही दोषी हैं, जिनके कि हाथों में राज-सत्ता अब तक बनी रही। किन्तु हमें समाज को शिक्षित बनाने में समय लगेगा, तब तक लोक-सत्तात्मक-मंत्रि-मंडल की स्थापना नहीं की जा सकती है। अतः मेरा सुझाव है कि मंत्रि-मंडल की स्थापना

राजा के हाथ में छोड़ दी जाय और उसे यह अधिकार दिया जाय कि प्रधान-मंत्री एवं चार दूसरे मंत्री, धारा सभा के जो सदस्य हों उनमें से किसी को महाराज चुन सकते हैं। परन्तु एक शर्त अवश्य रखना चाहिए, वह यह कि यदि धारा सभा द्वारा किसी भी मंत्री के विरुद्ध अविश्वास (Non-Confidence) पेश किया जाय और वह बहुमत से स्वीकार हो जाय तो उस हालत में उस मंत्री को जिसके कि विरुद्ध प्रस्ताव पास हुआ, लाजमी होगा कि वह मंत्रि-मंडल से हट जाय। ऐसे समय महाराज को अधिकार होगा कि उस विसर्जित मंत्री के स्थान पर अन्य सदस्य को नियुक्त करें, जिसमें कि धारा-सभा का विश्वास हो।

"यद्यपि यह मेरा सुझाव आप लोगों को अजीब-सा नजर आयगा परन्तु मेरा अभिप्राय यह है कि अभी तक हमारे राज की जनता में राजनैतिक-सिद्धान्त समझने का अभाव है। इसके अतिरिक्त यदि समाज की यह इच्छा है कि किसी एक दल द्वारा ही मंत्रि-मंडल स्थापित किया जाय तो उसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है। मैंने तो आपके सामने केवल अपने विचार रक्खे हैं, अब उनका मानना न मानना आप पर निर्भर है किन्तु मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि शासन-विधान में चाहे वह समाजवाद या पूँजीवाद पर निर्भर हो अथवा राज-तंत्र या प्रजा-तंत्र पर अवलंबित हो, किन्तु हमें हमारे समाज की प्रवृत्तियों अथवा देश एवं काल की परिस्थितियों की ओर ध्यान देकर उसके अनुसार ही लोक हित के लाभ के लिए शासन-प्रणाली कायम करनी चाहिए। मैं यह मानने को

सर्वथा तैयार नहीं हैं कि जो विधान आजकल अमेरिका, इंगलैंड, रूस आदि देशों में स्थापित हैं उसी की नकल कर यहाँ के समाज को उस ढाँचे में बिना उसकी इच्छा के ढालने की कोशिश की जावे।"

"हमें कई एक शासन-प्रणालियाँ हमारे देश अथवा दूसरे देशों के इतिहास अवलोकन करने से मालूम हो सकती हैं जिससे हमारे नये शासन-विधान बनाने में सहायता ली जा सकती है। अस्तु, मेरा आप से अनुरोध है कि आप मेरे सुझावों पर सोचें, विचारें और बिना डर के अपना मंतव्य प्रकट करें। मैं तो केवल प्रजा का सेवक हूँ, और जनता के द्वारा शासन हो उसका पक्षपाती हूँ। बिना इसे अपनाये हमारी राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक समस्या हल न हो सकेगी और हमारे समाज में अनियमित राज-तंत्र (Unlimited monarchy) रखने से इन उलझनों को सुलझाने का कोई उपाय दिखाई नहीं देता।"

महाराज के हृदयोद्गार सुनते २ नेतागण प्रफुल्लित हो उठे और अन्त में श्रीकान्त ने सब सज्जनों की ओर से महाराज को धन्यवाद दिया और कहा—"हमें राम-राज्य की, जिसके लिए कि महात्मा गांधी ने एक समय कहा था, झलक फिर से दिखाई दे रही है, उसके प्रकाशित हो जाने पर ही देशी-राज्य की स्थापना जो सैकड़ों वर्षों पहले से हुई है, अपना अस्तित्व ठीक रूप से रख पावेगी।"

श्रीकान्त के छोटे से भाषण के समाप्त हो जाने पर महाराज

ने पुनश्च कहा—"मैं यह घोषणा करना उचित समझता हूँ कि मैं अपने युवराज को, जो कि अब बालिग हो चुके हैं, यदि आपकी अनुमति हो तो अपना उत्तराधिकारी बनाकर वापस काशी-यात्रा चला जाऊँ। क्योंकि अब मेरी आयु पचास वर्ष की हो चुकी है और मुझे शासन करने से अब अरुचि भी हो गई है। आपको यह भली भाँति मालूम है कि मुग़ल-साम्राज्य की भारत में स्थापना होने से पूर्व प्राचीन भारत मे परम्परा से यह प्रथा प्रचलित थी कि पचास वर्ष की आयु हो जाने के पश्चात् क्या राजा और क्या रंक अपने पुत्र के योग्य हो जाने पर गृहस्थाश्रम को छोड़ वानप्रस्थ को ग्रहण कर लेते थे। अस्तु, मैं भी उसी परम्परा की मर्यादा को फिर से अपनाना चाहता हूँ। अतः मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं अपने युवराज को अपने स्थान का उत्तराधिकारी घोषित करूँ।"

महाराज के यों राज्य छोड़ने के निर्णय का सुनकर श्रीकान्त आदि नेताओं को बड़ा दुःख हुआ। श्रीकान्त ने महाराज से एकान्त में वार्तालाप करने की इच्छा प्रकट की। तब महाराज उसे अपने बैठने के कमरे में ले गए जहाँ उनमें परस्पर इस प्रकार बातचीत हुई:—

श्रीकान्त—"मैं महाराज के विचारों में परिवर्तन देख बड़ा अचंभे में पड़ गया हूँ। हमें यह मालूम नहीं था कि महाराज के विचार प्रजा-तंत्र की ओर इतने बढ़ गए हैं।"

महाराज—"यह आपने कैसे कहा कि मेरे विचार उत्तरदायित्व पूर्ण शासन के प्रतिकूल थे।"

श्रीकान्त—"इसलिये कि महाराज के पहले के विचार दैविक-अधिकार कायम रखने के थे।"

महाराज (जल्दी से)—"नहीं, नहीं, यह बात न थी। उस समय हमें यही सलाह दी जा रही थी कि प्रजा को कोई अधिकार नहीं देना चाहिए वरना नरेशों का अस्तित्व न रह पावेगा। श्रीकान्तजी! आप, हम नरेशों को जो शिक्षा दी जाती है उससे परिचित नहीं है। हमें जो रइसों के कॉलेजों में शिक्षा दी जाती है, वह प्रजा-तंत्र के विचारों से विपरीत होती है। इस शिक्षा से हमारा नैतिक व आध्यात्मिक पतन होता जा रहा है। इसी कारण मैंने अपने युवराज को रईसों के कॉलेज में न भेजकर ऐसे कॉलेज में शिक्षा दिलाई, जहाँ जन-साधारण के लड़के शिक्षा पाते हैं। परिणाम स्वरूप देख लीजिये कि युवराज के विचार प्रजा-तंत्र की ओर कितने झुके हुए हैं, वे आपको निकट भविष्य में प्रतीत होंगे।"

श्रीकान्त—"तो महाराज, आपके विचार से यह प्रकट हुआ कि इस गलत शिक्षा के मिलने ही का यह कारण है कि देशी नरेश प्रजा-हितैषी सिद्ध नहीं हो रहे हैं?"

महाराज—"हाँ! वास्तव में मुख्य कारण यही है किन्तु एक यह भी है कि देशी नरेशों के सलाहकार प्रायः उन्हें अनुचित सलाह देते रहे हैं। हमारे सलाहकारों में से ऐसे व्यक्ति भी मिलेंगे जो पोलिटिकल-एजेन्ट को जाकर कुछ कहते हैं और हमें कुछ कहते हैं तथा प्रजा को कुछ और ही कहा करते हैं। यही नहीं, किन्तु ऐसे भी सलाहकार दृष्टिगोचर होते हैं जो पोलिटिकल-एजेन्ट के पास जाते

हैं तो सूट-बूट, टाई-कॉलर, हेट में अप-टू-डेट होकर जाते हैं और पोलिटिकल-विभाग की नीति के विरुद्ध न कह कर उसका समर्थन करते हैं। यहाँ तक कि पोलिटिकल-एजन्ट को यह तक कह देते हैं कि हमारा नरेश तो मूर्ख है तथा प्रजा उसके विमुख है। अतः उसे पूर्ण अधिकार नहीं देना चाहिए। राज्य के कुल अधिकार कौंसिल को होना चाहिए अन्यथा प्रजा आन्दोलन मचा देगी। फिर वही सलाहकार नरेश के पास साफा, अचकन व चुस्त पजामे में जाता है, अपनी गर्दन लम्बी झुकाकर अदब से सलाम करता है और नरेश को यही बताता है कि केवल वही एक उसका शुभचिन्तक है और नानाभाति उनसे चापलूसी की बातें करता है। कभी कभी महाराज को डरा भी देता है कि पोलिटिकल-एजन्ट नहीं चाहता कि महाराज कौंसिल के मत में हस्तक्षेप करें, वरना उनके अधिकार पोलिटिकल-विभाग द्वारा छीन लिए जावेंगे।

यही सलाहकार प्रजा-मंडल के नेताओं के पास खादीपोश होकर जाते हैं और राज में आन्दोलन मचाने की सलाह देते हैं और उनको खानगी में कहते हैं कि महाराज प्रजा तंत्र के विरुद्ध हैं। वे अपने दैविक अधिकार कायम रखना चाहते हैं। अतः जब तक महाराज कायम रहेंगे तब तक प्रजा को कोई अधिकार न मिल सकेगा। बस प्रजामंडल की ओर से आन्दोलन शुरू होता है तो वही सलाहकार सत्याग्रहियों पर महाराज को गोली चलाने की सलाह देते हैं। यद्यपि महाराज गोली चलाने से इन्कार करते हैं तो भी कौंसिल द्वारा तय कर गोली चला डालते हैं। अतः आन्दोलन

शान्त होने के वजाय बढ़ता है और बेचारे नरेश सब ओर से बदनाम हो जाते हैं। इस तरह सलाहकारों का यह गिरगटवत् रंग-रूप, चाल-ढाल और वेष-भूषा देखकर कौन आश्चर्यान्वित न होगा ?"

श्रीकान्त—"तो देशी नरेश ऐसे सलाहकारों को हटा क्यों नहीं देते ?"

महाराज—"क्योंकि प्रायः सलाहकार अथवा प्रधान मंत्री आदि पोलिटिकल-विभाग के मानेता होते हैं। इसलिए नरेश भी उनसे डरते हैं कि कहीं उनके अलग हो जाने से आन्दोलन अधिक न हो।"

श्रीकान्त—"मेरे विचार से देशी नरेशों को चाहिए कि अपनी प्रजा के नेताओं से सीधा संबंध करके अपनी रियासतों में उनकी परिस्थिति के अनुकूल शासन-विधान स्थापित करलें।"

महाराज (मुस्कराकर)—"यदि नरेश ऐसा कर सकें तो सबसे उत्तम है, किन्तु वे तो जैसा कि मैं पहले बता चुका हूँ पाखण्ड व षड्यंत्र के शिकार बने हुए हैं। उनकी दशा रासपूटीन रूपी सलाहकारों ने बड़ी कमजोर बना दी है। यदि ऐसी किसी नरेश ने हिम्मत भी की तो बेचारे को राज छोड़कर बाहर जाने की सलाह दी जावेगी।"

श्रीकान्त—"तो महाराज ! इसका उपाय क्या है ? हमारा विचार कदापि यह नहीं है कि देशी नरेश नेश्त-नाबूद हों।"

महाराज—"इसका सरल उपाय यही है कि शनैः शनैः वे

प्रजा के नेतागण को 'पोपुलर मिनिस्टर' के रूप में कौंसिल के मंत्री कायम करें। इससे एक तो यह होगा कि प्रजा के नेताओं को देशी नरेशों के सम्पर्क में आने का अवसर मिलेगा। दूसरा यह होगा कि सलाहकारों के प्रपंचों में कमी होने लगेगी। मेरी समझ में उत्तरदायित्व पूर्ण शासन को, जिसके प्रति कि मैं मेरे राज्य के नेतागण को अपने विचार प्रकट कर चुका हूँ, कायम कर लेने से शांति की स्थापना होगी और नरेश भी अपने अस्तित्व को स्थिर रख सकेंगे। क्योकि संसार परिवर्तनशील है और जन समाज के विचार भी सदा एकसे नहीं रहते। यदि अभी प्रजा तंत्र की हवा है तो नरेशों को भी उसी के अनुकूल चलना चाहिए। वरना उनकी वही गति होगी जो विश्वव्यापी महायुद्धों के पश्चात् योरोपीय सम्राटों की हुई है। केवल ब्रिटेन का सम्राट ही अपना अस्तित्व कायम रख सका है। हमें इसका अनुकरण करना चाहिए। किन्तु हम देशी नरेश तो हमारी सनदें, इक़रारनामे व सन्धि की पाबन्दी का गीत गाते हैं और प्रजा को अधिकार देने का केवल आश्वासन भर देते रहते हैं!"

× × × ×

महाराज के अपने निश्चय के अनुसार वानप्रस्थ आश्रम के लिए प्रस्थान कर जाने के तदनन्तर युवराज नये महाराज घोषित किये गए। जिन्होंने धारा-सभा के सदस्यों के समक्ष प्रतिज्ञा की कि वे राज-विधान का तन-मन से पालन करेंगे तथा उसका ध्येय वही

रहेगा जो उनके पिता का था।

इन नये महाराज का बाल्य-काल एवं युवावस्था काशी ही में व्यतीत हुई थी वहाँ पर ये एक साधारण लड़के की तरह ऐसे स्कूल मे भेजे गए थे जहाँ सर्व साधारण के बालक शिक्षा ग्रहण करते थे। इनके पिता (महाराज) ने इन्हें कभी यह तक भान न होने दिया कि भविष्य में ये एक बड़े राज्य के अधिकारी बनेंगे, बल्कि इनकी शिक्षा तो ऐसे विश्वविद्यालय में हुई जहाँ ऊँच-नीच का कोई प्रश्न न था। यहाँ तक कि ये वर्तमान महाराज वहाँ अपने नाम से पुकारे जाते थे और किसी विद्यार्थी को इस बात का पता तक न था कि यह होनहार नवयुवक किसी एक नरेश का कुमार है। इन महाराज ने राजनैतिक-विज्ञान का अच्छा अध्ययन किया। इनकी भाषण-शक्ति भी बड़ी चढ़ी-बढ़ी थी। इस वाक्-पटुता से इन्हें वाद-विवाद सभाओं से कई स्वर्ण-पदक उपलब्ध हुए। इन्हें एक समय 'देशी-राज्यों का भावी-भारत में क्या स्थान रहेगा' इस विषय पर अपने विचार प्रकट करने का आग्रह किया गया, जिस पर उन्होंने अपने जो हृदयोद्‌गार प्रकट किए वे अविकल रूप में निम्न हैं:—

"मैं समझता हूँ कि देशी राज्यों ने एक भयंकर भूल सन् १९३५ के 'संघ-शासन' के अस्वीकार करने में की। दूसरी भूल विश्व-व्यापी महायुद्ध के पश्चात् उत्तरदायित्वपूर्ण शासन स्वीकार न करने की है। और आज जब कि रूस का साम्यवाद पूर्वीय एशिया में प्रबल वेग से फैलता जा रहा है तब यदि इस

समय सावधानी न रक्खी जायगी और देशी नरेश 'टट्टी की ओट में' शिकारी-सलाहकारों की सलाह पर निर्भर रह अपनी सन्तानवत् प्रिय प्रजा की वास्तविक मांगों को ठुकराते ही रहे तो भविष्य में उनकी स्थिति बहुत ही शोचनीय बनने की संभावना है। यदि देशी नरेशों ने अपनी जनता को अपने साथ रक्खा तो संभवतः उनका स्वतंत्र भारत में स्थान रह सकेगा। परन्तु दुर्भाग्य है कि उनके परामर्शकर्ता उन्हें कुपथ पर ले जा रहे हैं और उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि जबतक भारत में वृटिश-साम्राज्य का प्रभुत्व है तब तक उनका कोई कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता। उनका यह कथन केवल उनकी स्वार्थपरायणता सिद्ध करता है। क्योंकि विश्व-व्यापी युद्ध के पश्चात् विश्व की विचार-धारा जो आज प्रजा-तंत्र की ओर प्रवाहित हो रही है, उससे यह प्रतीत होता है कि वह भविष्य दूर नहीं है जब कि सर्वत्र एक मात्र प्रजा-तंत्र ही दृष्टिगोचर होगा।"

अतः देशी नरेशों को चाहिए कि वे अपने यहाँ उत्तरदायित्व पूर्ण शासन घोषित कर अपने राज्य की नींव को सुदृढ़ बनावें और जहाँ तक बन सके अपनी प्रजा तथा समाज से कम लाभ उठा उन्हें पूर्ण अधिकार देने का ही लक्ष्य रख जनता के सच्चे ट्रस्टी (Trustee) सिद्ध हों। मेरा तो स्पष्ट शब्दों में यही मत है। चाहे नरेश इसे मानें या न मानें, यह उनकी इच्छा पर है, परन्तु मेरा तो उन्हें अपने अस्तित्व की रक्षा के हेतु यही अन्तिम सन्देश है। वे इस मन्तव्य को स्वीकार कर चलेंगे तो अवश्य ही उनका

भविष्य उज्ज्वल है। अन्यथा निश्चय समझें कि यह देशी राज्यों की अंतिम ज्योति का समय आ गया है। कोई शक्ति नहीं जो उन्हें फिर बचा सके। क्या देशी नरेश अब भी समय रहते सुध लेंगे?

॥ समाप्तम् ॥